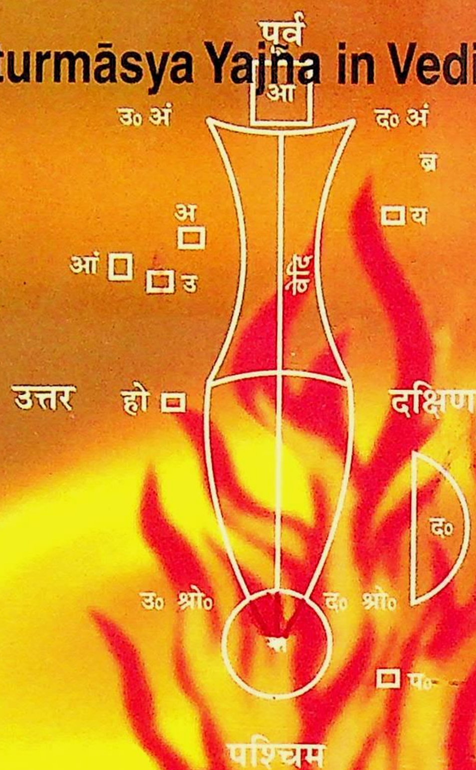
वैदिक वाङ्मय में चातुर्मास्य यज्ञ

Cāturmāsya Yajña in Vedic Literature

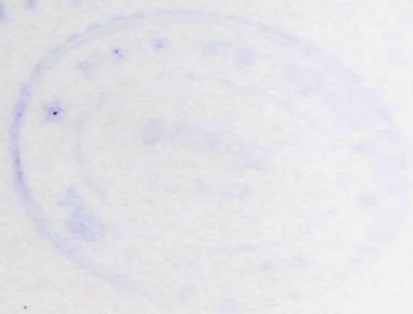


डॉ० लालताप्रसाद द्विवेदी

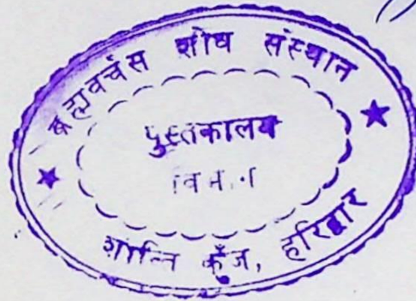
पुस्तक-परिचय

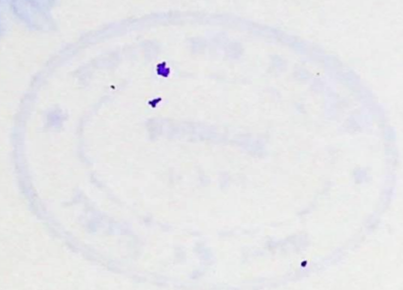
स्मार्तयाग में चातुर्मास्य यज्ञ का अतिशायी महत्व है। यह चार-चार महीने पर अनुष्ठित होने वाला ऋतु-सम्बन्धी भैषज्य यज्ञ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों के अनुसार इस यज्ञ को सम्पन्न करने वाला व्यक्ति अक्षय्य सुकृत (कभी न नष्ट होने वाले पुण्य) को प्राप्त करता है, जिसके फलस्वरूप उसे स्वर्ग की भी प्राप्ति हो जाती है। अधिकतर आचार्यों ने इसे वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध तथा शुनासीरीय इन चार पर्वों में विभक्त किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन सभी पर्वों का सम्यक् विवेचन किया गया है। मन्त्र-विनियोग, यज्ञ-वेदियों एवं यज्ञोपकरणों का सचित्र प्रदर्शन और दक्षिणा-विधान इस ग्रन्थ के महत्व को बढ़ाते हैं।


शोध संस्थान
पुस्तकालय



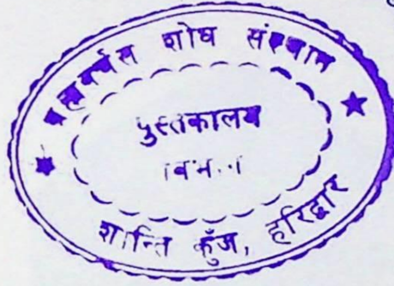
वैदिक वाङ्मय में चातुर्मास्य यज्ञ





वैदिक वाङ्मय में चातुर्मास्य यज्ञ

Cāturmāsya Yajña in Vedic Literature



डॉ. लालताप्रसाद द्विवेदी 'अगम'

एम०ए०, एम०एड्०, पी-एच०डी० (संस्कृत एवं शिक्षाशास्त्र)

वरिष्ठ प्रवक्ता - शिक्षक शिक्षा विभाग

इन्दिरा गाँधी पी०जी० कॉलेज

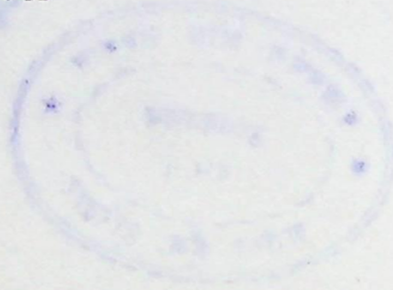
गौरीगञ्ज, सुलतानपुर (उ०प्र०)

पेनमैन पब्लिशर्स

दिल्ली (भारत)

संस्करण : 2005

ISBN : 81-85504-44-X



प्रकाशक:

जवाहरलाल गुप्त 'चैतन्य'

पेनमैन पब्लिशर्स

7308 प्रेमनगर, शक्ति नगर

दिल्ली-110007

दूरभाष : 011-27112806, मो०: 9891003296

ई-मेल : penmanbooks@yahoo.co.in

अक्षर समायोजक:

काम्पोग्राफिक प्वाइंट, ब्रह्मपुरी, दिल्ली-53

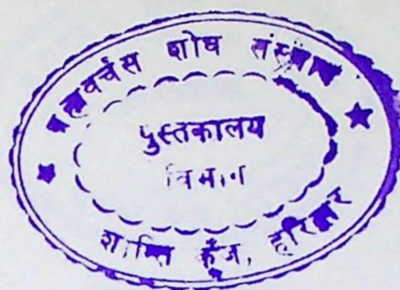
मुद्रक:

अमित एण्टरप्राइजेज, मौजपुर, दिल्ली

Vaidic Vāṅmaya Mein Cāturmāsya Yajña

By Dwivedi, L.P.(Dr.) 'Agam'

Rs. 350/-



समर्पण



परमपूज्य गुरुवर

युग ऋषि

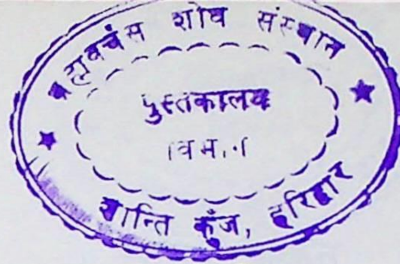
यज्ञ विद्या के उद्धारक

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ

प० श्रीराम शर्मा आचार्य को सश्रद्ध

लालताप्रसाद द्विवेदी 'अगम'





आशीर्वचन

नमोदेव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः

वेदोक्त हविर्यागों में यद्यपि दर्शपूर्णमास यज्ञों का ही प्राथम्य स्वीकृत है, तथापि समस्त वैदिक वाङ्मय में चातुर्मास्य यागों की महत्ता बहुशः प्रतिपादित है। चातुर्मास्य यागों के इस महत्त्व को ध्यान में रखकर ही डॉ० लालताप्रसाद द्विवेदी इनका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। इस कृति में शोध प्रबन्ध के रूप में डॉ० द्विवेदी ने इसे पहले प्रस्तुत किया था और मैंने परीक्षक के रूप में इसे पी-एच०डी० उपाधि के लिए स्वीकृत किया था। तदनन्तर मेरे कुछ सुझावों को ध्यान में रखकर डॉ० लालताप्रसाद द्विवेदी ने इसे पुस्तक के आकार में प्रस्तुत करने के लिए इसमें व्यापक परिवर्तन किये हैं। चातुर्मास्य याग ऋतु सम्बद्ध याग हैं, परन्तु इनके ऋत्विक् ऋतुयाजी और चातुर्मास्ययाजी भी हैं। चातुर्मास्य के चार पर्वों से यह स्पष्ट है कि जहाँ इनका सम्बन्ध एक ओर कृषि से है, वहीं दूसरी ओर वे वैदिक सृष्टि-गाथा से भी सम्बद्ध हैं। वस्तुतः सभी वैदिक याग किसी न किसी रूप में सृष्टि विद्या से जुड़े हुए हैं। डॉ० द्विवेदी ने पहले चातुर्मास्य यागों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है और तदनन्तर श्रौतसूत्रों के आधार पर इन यागों के अनुष्ठान का विस्तृत विवेचन किया है। मेरा विश्वास है कि डॉ० द्विवेदी का यह प्रयत्न श्लाघ्य एवं मौलिक भी है। साथ ही यागों की प्रतीक-व्यञ्जना भी यत्र तत्र इस ग्रन्थ में विश्लेषित है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अन्त में मन्त्रविनियोग, यज्ञोपकरणों का सचित्र प्रदर्शन और दक्षिणाविधान इस ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ाते हैं। निःसन्देह यह ग्रन्थ वैदिक क्रतु के अनुसन्धाताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

डॉ० द्विवेदी की दीर्घायु की कामना करते हुए मैं उन्हें इस कृति के लिए बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वह भविष्य में भी वैदिक यज्ञों का गम्भीर अध्ययन करते रहेंगे।

प्रो० (डॉ०) अतुलचन्द्र बनर्जी

भूतपूर्व कुलपति

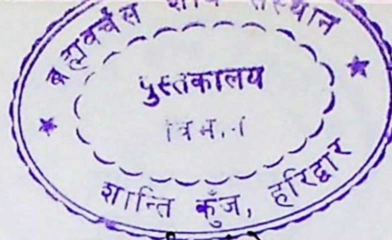
अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद (उ०प्र०)

पुरोवाक्

वैदिक धर्म की आस्था का केन्द्र बिन्दु यज्ञ था। यही कारण है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में यज्ञ-विद्या का अपरिमित विस्तार दिखाई देता है। वस्तुतः यज्ञ-विद्या ही रहस्यमयी एवं बहुविध सृष्टि-विद्या है, जिसका ठोस वैज्ञानिक आधार है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में डॉ० लालताप्रसाद द्विवेदी 'अगम' जी ने चातुर्मास्य यज्ञ का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है, जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। डॉ द्विवेदी दीर्घकाल तक श्री प्रतापबहादुर सिंह स्मारक पौराणिक संस्थान, हरगाँव, सुलतानपुर (उ०प्र०) में उप-निदेशक के पद पर कार्यरत रहे हैं। इस बीच मुझे उनके उत्कट विद्या प्रेम एवं प्रखर शोधदृष्टि ने अत्यधिक प्रभावित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व मैने इसकी पाण्डुलिपि को देखा था और आवश्यक सुझाव भी दिये थे । प्रसन्नता का विषय है कि डॉ० द्विवेदी ने इस ग्रन्थ का पूर्ण परिष्कार करने के पश्चात् ही इसे प्रकाशन हेतु प्रस्तुत किया है । मैं इनके भावी मङ्गल की कामना करता हूँ और आशान्वित हूँ कि शीघ्र ही अपने अन्य ग्रन्थों को भी प्रकाश में लायेंगे ।

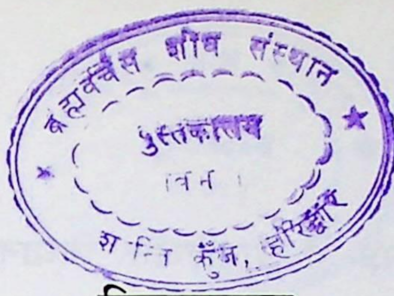
लाल शीतलाशरण सिंह
निदेशक
श्री प्रतापबहादुर सिंह स्मारक पौराणिक संस्थान
हरगाँव, सुलतानपुर (उ०प्र०)



सन्दर्भ-संकेत

अ०सं०	अथर्ववेद शौनक संहिता
अ०पै०सं०	अथर्ववेद पैप्पलाद संहिता
आश्व०गृ०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्व०श्रौ०	आश्वलायन श्रौतसूत्र
आप०गृ०	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप०श्रौ०	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
इ०वै०क०	इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज
ऋ०सं०	ऋग्वेद संहिता
ऋ०	ऋग्वेद
ऋ०भ०भू०	ऋग्वेद भाष्य भूमिका
स०बु०ई०	सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट
ऐ०आ०	ऐतरेयारण्यक
ऐ०ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
कपि०सं०	कपिष्ठल कठ संहिता
कात्या०श्रौ०	कात्यायन श्रौतसूत्र
काठ०श्रौ०	काठक श्रौतसूत्र
काश०ब्रा०	काण्व शतपथ ब्राह्मण
का०सं०	काठक संहिता
कौ०ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण
कौ०सू०	कौशिक सूत्र
गो०ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
गौ०ध०सू०	गौतम धर्मसूत्र
जै०ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
जै०न्या०	जैमिनि न्याय माला
जै०सू०	जैमिनि सूत्र
तां०ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
ता०उ०	ताण्ड्य उपनिषद्
तै०आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
द्र०	द्रष्टव्य
द्रा०श्रौ०	द्राह्यायण श्रौतसूत्र

ना०उ०	नारायण उपनिषद्
बौधा०श्रौ०	बौधायन श्रौतसूत्र
भा०प०श्रौ०	भारद्वाज परिशिष्ट श्रौतसूत्र
भा०श्रौ०	भारद्वाज श्रौतसूत्र
मनु०	मनुस्मृति
मान०श्रौ०	मानव श्रौतसूत्र
मै०सं०	मैत्रायणी संहिता
य०त०प्र०	यज्ञ तत्व प्रकाश
रि फि वे उ०	दी रिलिजन एण्ड फिलासफी आफ दी वेद एण्ड दी उपनिषद्
लाट्या०श्रौ०	लाट्यायन श्रौतसूत्र
वा का०सं०	वाजसनेयि काण्व संहिता
वारा०श्रौ०	वाराह श्रौतसूत्र
वे व्लै. यस्कू	वेद आफ दी व्लैक यजुष् स्कूल इन्टाइटिल्ड तैत्तिरीय संहिता
वै०वा०का०इति०	वैदिक वाङ्मय का इतिहास
वैखा०श्रौ०	वैखानस श्रौतसूत्र
वै स्मार्त सू०	वैखानस स्मार्तसूत्र
वैता०श्रौ०	वैतान श्रौतसूत्र
वै०को०	वैदिक कोष
श०ब्रा०का०	शतपथ ब्राह्मण (काण्वशाखा)
श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन शाखा)
शु०य०सं०	शुक्ल यजुर्वेद संहिता
शं०गृ०सू०	शांखायन गृह्यसूत्र
शां०ब्रा०	शांखायन ब्राह्मण
शां०श्रौ०	शांखायन श्रौतसूत्र
श्रौ०प०नि०	श्रौतपदार्थनिर्वचनम्
ष०ब्रा०	षड्विंश ब्राह्मण
सत्या०गृ०	सत्याषाढ गृह्यसूत्र
सत्या०श्रौ०	सत्याषाढ श्रौतसूत्र
हि०ध०शा०	हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र
ध०शा०इ०	धर्मशास्त्र का इतिहास



विषयानुक्रम

आशीर्वचन vii

पुरोवाक् viii

संकेत संदर्भ ix

भूमिका xiii

प्रथम अध्याय :

वैदिक धर्म एवं यज्ञ **1-21**

- यज्ञ शब्द का अर्थ एवं परिभाषा 3
  यज्ञ के अंग : देवता, द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विज् दक्षिणा 4
- यज्ञ का वर्गीकरण तथा संस्थाएँ 11
- चातुर्मास्य यज्ञ : अर्थ माहात्म्य एवं पर्व 15

द्वितीय अध्याय :

चातुर्मास्य यज्ञ : एक ऐतिहासिक अनुशीलन **22-33**

- यज्ञ और वेद का सम्बन्ध तथा उनकी प्राचीनता 22
- यज्ञ का आधारिक वैज्ञानिक स्वरूप 23
- पुस्तकाकार वेद तथा कर्मकाण्डीय यज्ञ का उद्भव तथा प्राचीनता 25
- चातुर्मास्य यज्ञः उद्भव तथा प्राचीनता 27
- चातुर्मास्य याग का क्रमिक-ऐतिहासिक विकास 27

तृतीय अध्याय : **वैश्वदेव पर्व** **34-71**

चतुर्थ अध्याय : **वरुणःप्रघास पर्व** **72-91**

पञ्चम अध्याय : **साकमेध पर्व** **92-118**

षष्ठ अध्याय : **शुनासीरीय पर्व** **119-125**

सप्तम अध्याय :

चातुर्मास्य यज्ञ में प्रायश्चित्त विधान 126-137

अष्टम अध्याय :

चातुर्मास्य यज्ञ में विनियुक्त मन्त्र एवं दक्षिणा विधान 138-156

- मन्त्र विनियोग 138
- सारणी 140
- चातुर्मास्य यज्ञ में दक्षिणा विधान 153

नवम अध्याय: **उपसंहार 157-161**

परिशिष्ट 162-192

(1) पारिभाषिक शब्दावली 162

(2) यज्ञिय पात्र 169

(क) पात्रों एवं उपकरणों के चित्र 174

(ख) चातुर्मास्येष्टि की वेदियाँ 181

(3) यज्ञ वेदियों में प्रयुक्त संक्षेपाक्षर 183

(4) सन्दर्भग्रन्थ-सूची एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि 185



भूमिका

वैदिक धर्म कर्मकाण्ड प्रधान है। समस्त वैदिक साहित्य यज्ञ की पृष्ठभूमि में आलोकित है। सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञमय है। यज्ञ ही निखिल जगत् की उत्पत्ति का केन्द्र है। चराचर-दृष्टादृष्ट समस्त जड़-चेतन इसी यज्ञ-क्रिया के परिणाम हैं। इसीलिए तो ऋचा उद्घोषित करती है कि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' अर्थात् यज्ञ से देवों ने यज्ञ-रूप प्रजापति का यजन किया था। यज्ञ-क्रियाएँ ही प्रथम धर्म के रूप में अनुस्यूत हैं। यज्ञानुष्ठान से मानवीय ऐहिकामुष्मिक कामनाओं की पूर्ति सम्भव है।

यज्ञ का परिवेश अत्यन्त व्यापक है। स्वयं प्रकृति सम्प्रति अध्वर्यु के रूप में यज्ञ-क्रिया को अग्रेषित कर रही है। यज्ञ-सम्पादन में ऋतुओं का विशिष्ट महत्त्व है। ऋतुओं के अनुकूल ही यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं। इसीलिए यज्ञ में आदि देव ने ऋतुओं को आज्य, इध्म, हवि एवं अग्नि आदि के रूप में भी निरूपित किया है।

यज्ञ की तीन संस्थाएँ हैं : १. हवि, २. सोम तथा ३. पाक। इन त्रिधात्मक संस्थाओं में क्रमशः सात-सात यज्ञ-विधाएँ विहित हैं, जिनमें हवि एवं सोम संस्थाक यागों को श्रौत अथवा वैदिक यज्ञ कहा गया है। उभय विधि वैदिक यागों (हवि एवं सोम) के क्रमशः दर्शपूर्णमास एवं अग्निष्टोम प्रकृति यज्ञ हैं। अक्षय्य सुकृत रूप फल प्रदान करने वाला ऋतु-सम्बन्धी चातुर्मास्य नामक याग स्वयं में प्रकृति एवं विकृति उभय रूप धारण करता है, जिसके आनुष्ठानिक विधि-विधान समग्र याज्ञिक साहित्य में प्रस्तुत किये गये हैं। वेदों की विविध शाखाओं में चातुर्मास्य यज्ञ की आनुष्ठानिक प्रक्रियाएँ यत्किञ्चित् भिन्नता के साथ विहित हैं, जिनके सापेक्षिक, समुचित एवं वास्तविक स्वरूप का प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्यक् विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध नौ अध्यायों में विस्तारित है, जिसके ''प्रस्तावना'' संज्ञक प्रथम अध्याय में क्रमशः वैदिक धर्म एवं यज्ञ, यज्ञ शब्द का अर्थ एवं उसकी परिभाषा, यज्ञ के अंग वर्गीकरण तथा उसकी संस्थाओं को निरूपित करते हुए चातुर्मास्य यज्ञ के अर्थ, माहात्म्य एवं पर्वों को स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय का अभिधान ''चातुर्मास्य यज्ञः, एक ऐतिहासिक अनुशीलन'' है, जिसमें समग्र वैदिक साहित्य के प्रकाश में चातुर्मास्य यज्ञ का ऐतिहासिक स्वरूप विवेचित है ।

तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में क्रमशः वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध एवं शुनासीरीय नामक चातुर्मास्य यज्ञ में अनुष्ठेय पर्वों का साङ्ोपाङ् विवेचन हुआ है।

'चातुर्मास्य यज्ञ में प्रायश्चित्त विधान' संज्ञक सप्तम अध्याय में चातुर्मास्य यज्ञ में विहित प्रायश्चित्त विधानों का निरूपण है।

अष्टम अध्याय की संज्ञा ''चातुर्मास्य यज्ञ में विनियुक्त मंत्र एवं दक्षिणा विधान'' है। इस अध्याय के अन्तर्गत इस यज्ञ के मंत्र विनियोग को स्पष्ट करते हुए विविध संहिताओं के विनियोज्य मंत्रों की सारणी यज्ञ-प्रसङ्गों के अनुसार प्रस्तुत की गयी है। तत्पश्चात् चातुर्मास्य यज्ञ के चारों पर्वों में विहित दक्षिणा-विधानों का विवेचन किया गया है।

नवम अध्याय में इस ग्रन्थ में विवेचित समस्त तथ्यों का उपसंहार किया गया है। इसके अनन्तर 'पारिभाषिक शब्दावली' 'यज्ञिय पात्र एवं उनके उपकरण' तथा 'चातुर्मास्येष्टि की वेदियाँ' शीर्षक तीन परिशिष्टियाँ दी गयी हैं। यज्ञिय पात्रों के अन्तर्गत उनके चित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं।

इस ग्रन्थ में चातुर्मास्य याग के सम्बन्ध में विविध आचार्यों के मत-मतान्तरों का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए प्रायः सर्वानुमोदित मतों को ही ग्रहण किया गया है। इसका मुख्य कारण विस्तार-भय से बचना ही है।

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य ने वर्तमान युग में प्राचीन यज्ञ-परम्परा का पुनरुद्धार किया। उन्होंने गायत्री और यज्ञ को क्रमशः भारतीय संस्कृति का माता-पिता बताया। उन्हीं के विचारों से प्रभावित होकर यज्ञ विषय पर शोध करने की प्रबल कांक्षा मेरे मन में जागृत हुई। जब मैंने अपनी मनोभावनाओं

को श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० रामहित त्रिपाठी के समक्ष रखा तो उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक चातुर्मास्य यज्ञ पर मुझे शोध करने की प्रेरणा दी, जिसके परिणाम स्वरूप इस ग्रन्थ का प्रणयन सम्भव हो सका।

जिनके जीवन-दर्शन ने मेरे हृदय में यज्ञ के प्रति अनुराग पैदा किया, सर्वप्रथम मैं उन युग-ऋषि वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य की पुण्यस्मृति को प्रणाम करता हूँ। जिनकी प्रेरणा एवं योग्य निर्देशन में चातुर्मास्य यज्ञ विषय पर मेरा शोध कार्य पूर्ण हुआ, उन गुरुवर्य डॉ० रामहित त्रिपाठी, सम्प्रति प्राचार्य, कृषक महाविद्यालय, गौर, बस्ती (उ०प्र०) के प्रति मैं श्रद्धावनत् हूँ। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मात्र औपचारिकता होगी। मेरी शोध-अवधि में गुरु-पत्नी श्रीमती शोभा त्रिपाठी का जो मातृवत् वात्सल्य भरा स्नेह मुझे प्राप्त हुआ, वह मेरे शोध-पथ का पाथेय बना।

अपने शोध-प्रबन्ध के परीक्षक प्रो०(डॉ०) अतुलचन्द्र बनर्जी, भूतपूर्व कुलपति, डॉ० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद तथा प्रो० लक्ष्मीकान्त दीक्षित, अवकाशप्राप्त प्रो० और अध्यक्ष संस्कृत विभाग –इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद का मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मेरे शोध कार्य की सराहना की तथा बाद में भी अनेकानेक सुझावों के साथ इसे शीघ्र प्रकाशित कराने की प्रेरणा दी। गुरुकल्प श्रद्धेय प्रो० बनर्जी ने कृपापूर्वक इस ग्रन्थ में आशीर्वचन लिखने का कष्ट वहन किया है, जिसके लिए मैं विशेषरूप से आपका आभारी हूँ।

प्रस्तुत शोध-कार्य को पूरा करने में मुझे अनेक विद्वज्जनों से मौखिक एवं लिखित रूप में सहायता प्राप्त हुई है तथा अनेक विद्वानों के ग्रन्थों एवं लेखों का इसमें उपयोग किया गया है। मैं उन सबके प्रति विनम्र आभार प्रकट करता हूँ।

डॉ० विशालप्रसाद त्रिपाठी, अवकाशप्राप्त संस्कृत विभागाध्यक्ष, पत्राचार विद्यालय दिल्ली तथा डॉ० माधवप्रसाद पाण्डेय, अध्यक्ष -हिन्दी विभाग, आर०आर०पी०जी० कालेज, अमेठी, सुलतानपुर सदा से ही मेरे शुभेच्छु, प्रेरणा-स्रोत एवं पथ-प्रदर्शक रहे हैं, मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अपने शोध-कार्य के दौरान मुझे अनेक पुस्तकालयों की शरण लेनी पड़ी, जिनमें-इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद, श्री गङ्नाथ झा केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठम्, इलाहाबाद, सरस्वती पुस्तकालय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, अखिलभारतीय संस्कृत परिषद्, हजरतगंज, लखनऊ,

आर०आर०पी०जी० कालेज अमेठी, श्री प्रताप बहादुर सिंह स्मारक पौराणिक संस्थान, हरगाँव सुलतानपुर के पुस्तकालय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों का भी मैं कृतज्ञ हूँ।

श्री लाल शीतलाशरण सिंह, निदेशक, श्री प्रतापबहादुर सिंह स्मारक पौराणिक संस्थान, हरगाँव, सुलतानपुर (उ०प्र०) का मैं हृदय से उपकृत हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ को संशोधित करके परिष्कृत रूप प्रदान करने तथा इसे प्रकाशन के योग्य बनाने में मेरा पथ-प्रदर्शन किया और स्थान-स्थान पर अमूल्य सुझाव प्रदान किये।

मैं अपने माता-पिता श्रीमती राजमती द्विवेदी एवं श्री कालीदत्त द्विवेदी 'दिव्य' के प्रति बहुशः कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने स्वयं अनेकानेक कष्टों को सहन करते हुए भी मुझे सदैव विद्या-अध्ययन एवं शोध-कार्य में निरत रखा और निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देते रहे।

इस कार्य में सहयोग के लिए मैं अपनी धर्म पत्नी श्रीमती गीता देवी एवं बच्चों को हार्दिक साधुवाद एवं आशीर्वाद देता हूँ।

प्रिय शिष्य श्री दिनेश कुमार तिवारी, पूरे राजा, भटगवां, सुलतानपुर का मेरे प्रत्येक कार्य में मनसा, वाचा, कर्मणा सहयोग रहता है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में उनकी हार्दिक शुभकामना का मैं आभारी हूँ। आदरणीय भाई श्री जवाहरलाल गुप्त के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके सहयोग के विना इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव ही न था।

डॉ० लालताप्रसाद द्विवेदी 'अगम'
भगवती-भवन
पूरे गुरुदीन शुक्ल
भटगवां, सुलतानपुर (उ०प्र०)
पिन-२२७८०७

प्रथम अध्याय

वैदिक धर्म एवं यज्ञ

वैदिक वाङ्मय हमारे क्रान्तद्रष्टा मनीषियों के अप्रतिम ज्ञान का रत्नागार है। आर्यों का जीवन धर्म-प्रवण रहा है। सम्पूर्ण वेद वाङ्मय धर्म सापेक्ष है, जिसे वैदिक धर्म की संज्ञा प्रदान की गयी है। यह धर्म कर्मकाण्ड प्रधान है। इसके मूल में सन्निहित यज्ञ-प्रधानता ही इस धर्म की प्रमुख विशिष्टता है। आर्यों का ही नहीं, अपितु देवों का भी प्रथम धर्म यागानुष्ठान ही रहा है।[१]

यज्ञ समस्त कर्मों में अनन्यतम एवं श्रेष्ठतम कर्म है, जिसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन ब्राह्मणकार ने सबल शब्दों में किया है।[२] आर्यों का धार्मिक-जीवन इन्हीं यागानुष्ठानों से आप्लावित रहा है। यही कारण है कि अखिल वेद-वाङ्मय यज्ञों की पृष्ठभूमि में विरचित दिखाई पड़ता है। यज्ञ अनुष्ठान के सौविध्य को दृष्टिगत कर महर्षि वेदव्यास जी ने सम्पूर्ण मन्त्र राशि को संहिताओं के रूप में चतुर्धा विभक्त किया है।[३]

प्रकृति यज्ञ का सम्पादन निरन्तर कर रही है। जंगम जगत् का प्रत्यक्ष रूप प्रजापति है, और प्रजापति यज्ञ स्वरूप स्वीकार्य है।[४] भगवान् विष्णु को भी यज्ञ का प्रतीक कहा गया है।[५] आकाश मण्डल में विभासित दिवाकर को इस जड़ जगत् में यज्ञ का केन्द्र वतलाया गया है।[६] यही निखिल भुवन की उत्पत्ति का केन्द्र है।[७]

यज्ञ मनुष्य की परम उन्नति का माध्यम है।[८] यज्ञों के द्वारा सकल सुखों की प्राप्ति सम्भव है। लौकिक एवं अलौकिक फलों की प्राप्ति हेतु वेदवाक्य विविध प्रकार के यज्ञों का विधान करते हैं, यथा

स्वर्गकामौ यजेत्/स्वराज्यकामौ राजसूयेन यजेत्/वाजपेयनेष्टासम्राड् भवति। ऐन्द्राग्नमेकादश कपालं निर्वपेत/प्रजाकाम:/ आदि आदि।[९] चारों वेदों, पशु-पक्षियों, मनुष्यादि जीवों एवं सूर्य-चन्द्रादि देवों का प्रादुर्भाव भी इसी यज्ञ-क्रिया के माध्यम से होना स्वीकृत है।[१०] यज्ञ कल्याण कारक एवं सृष्टि का संरक्षक है। यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य इस लोक में सम्यक् लौकिक सुखों का उपभोग करके अन्तत: स्वर्ग को भी प्राप्त कर लेता है। मीमांसक मत भी स्वर्ग की कामना करने वाले को यजन करने का निर्देश देता है।[११] विश्व के समस्त कर्मों में श्रेष्ठतम कर्म होने के कारण ही यज्ञ परम आराध्य माना गया है। ब्रह्माण्ड का क्रियात्मक रूप ही प्रतीकरूप में यज्ञ में सम्पादित किया जाता है। वास्तव में यज्ञ-कर्म के द्वारा हम सृष्टि-प्रक्रिया का प्रत्यक्षीकरण करते हुए सृष्टि के अनुशासन की क्रियात्मकता में भी सहयोगी बनते हैं।

वस्तुत: अग्नि में हुत हवि वायु के द्वारा ऊपर ले जायी जाती है, जहाँ पहुँचकर वह समस्त वायुमण्डल में व्याप्त हो जाती है। तदनन्तर अन्तरिक्ष में सूर्य के प्रभाव से मेघमण्डल के रूप में परिवर्तित होकर नीचे की ओर आती हुई वही हवि समस्त प्राणियों को वृष्टिकर्म से तृप्ति प्रदान करती है।[१२] इस हुत हवि के प्रभाव से हुई जलवृष्टि द्वारा अन्तरिक्ष के पदार्थ पावन हो जाते हैं। ऐतरेयाचार्य के अनुसार पृथ्वी के ऊपर अनेकश: वानस्पतिक संसार का विकास होने लगता है।[१३] आहुतियों के माध्यम से ही संसार की दुर्गन्धि दूर होती है, वायुमण्डल जीवनोपयोगी तथा जल पवित्र होता है। यज्ञ से ही हम सकल कल्मषों को दूर भगाने में समर्थ होते हैं, यथा अश्वमेध याग करने वाला यजमान अपने समस्त पाप कर्मों तथा ब्रह्महत्या के सम्यक् दोषों को नष्ट कर देता है[१४] तथा मृत्यु को तैर कर अमरत्व को प्राप्त करता है।[१५] इसी प्रकार अग्निहोत्र अनुष्ठान से मानव अपने समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।[१६]

ब्राह्मणकार ने एक सुन्दर उपमा के माध्यम से पाप-विमोचन तत्व को समझाया है, यथा-जिस प्रकार सर्प अपनी प्राचीन केंचुल से छूट जाता है तथा ईषीका मूँज से छूट जाता है, उसी प्रकार से जो इन्द्र

को हवि देते हैं, वे सब पापों से मुक्ति पा जाते हैं। इसी प्रकार काठक संहिता के अनुसार जो व्यक्ति भ्रातृव्यवान होता है, वह पाप से संश्लिष्ट होता है। विजयाकांक्षी व्यक्ति इन्द्र देव के निमित्त यजन सम्पन्न कर बलयुक्त होकर अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करता है।[१७] अन्य ब्राह्मणग्रन्थों में भी पाप-विमोचनार्थ यागानुष्ठान की महत्ता का प्रतिपादन हुआ है।[१८] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्म पूर्णरूपेण यज्ञमय रहा है।

वैदिक काल में यज्ञों की अनिवार्यता वैदिक धर्मावलम्बियों के लिए दिनों-दिन बढ़ती गयी। सम्पूर्ण भारत में यज्ञ-संस्कृति का विकास हुआ। वैदिक धर्म एवं यागानुष्ठान एक दूसरे के पर्याय बनते गये। यही कारण रहा है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का सृजन यज्ञों की पृष्ठभूमि में आलोकित होता है। यज्ञ-क्रिया के माध्यम से मानव ऐहिकामुष्मिक सिद्धियों की प्राप्ति में क्षम हो सका है। यज्ञ-कर्म से बढ़कर कोई कृत्य इस जगत् में वै़दिक धर्मावलम्बियों को दृष्टिगत नहीं होता है।[१९]

यज्ञ शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

''देवपूजासंगतिकरणदानेषु'' अर्थों वाली यज् धातु से नञ् प्रत्यय करने पर यज्ञ पद की निष्पत्ति होती है। आचार्य कात्यायन ने यज्ञ शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है कि देवताओं के निमित्त द्रव्य (हव्य पदार्थ) का त्याग याग (यज्ञ) कहलाता है,[२०] जब कि आचार्य सायण का विचार है कि ''देवता विशेष के लिए अग्नि में हव्य पदार्थों का प्रक्षेपण करना यज्ञ कहलाता है।[२१]" मत्स्य पुराण में यज्ञ का लक्षण उसके अंगों को आधार मानते हुए किया गया है। उसके अनुसार ''देवताओं, हवियों, ऋक्, साम, यजुष् मन्त्रों एवं ऋत्विजों तथा दक्षिणा का संयोग जिस कर्म में किया जाता है, वह यज्ञ कहलाता है।[२२]"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यजमान की कांक्षाओं की पूर्ति हेतु विहित देवता, मन्त्र, द्रव्य का प्रयोग ऋत्विजों के आदेश एवं निर्देशों के अनुसार करते हुए उन्हें उनके पारश्रमिक रूप दक्षिणा को प्रदान कर किया जाने वाला आनुष्ठानिक विधान याग अथवा यज्ञ है। यज्ञ के अनेक पर्याय प्राप्त होते हैं। निघण्टु में इसके पर्यायों का उल्लेख

अग्रलिखित क्रम के अनुसार किया गया है। 'यज्ञ:, वेन:, अध्वर:, मेध:, विदथ:, नार्य:, सवनम्, होत्रा, इष्टि:, देवताता, मख:, विष्णु:, इन्दु:, प्रजापति: धर्म इति यज्ञस्य।[२३]

यज्ञ के अंग

यज्ञ पाङ्क्त है[२४], जिसके अन्तर्गत देवता, मन्त्र, ऋत्विज् द्रव्य एवं दक्षिणा इन पाँचों अंगों की गणना की जाती है। इनमें किसी भी एक अंग विशेष के अभाव या न्यूनाधिक्य की स्थिति में यज्ञावयवी विकलांग हो जाता है, क्योंकि कामनाओं के पूरक देवता होते हैं। द्रव्य को देवों तक पहुँचाने एवं उन्हें यज्ञशाला में आहूत करने के साधन मन्त्र होते हैं। मन्त्रों का उच्चारण करने वाले तथा उनका यथोचित रूप में विनियोग करने वाले ऋत्विज् होते हैं। ऋत्विजों को तृप्त करने पर ही याग की पूर्णता एवं सफलता निर्भर होती है। अत: उन्हें यथेष्ट दक्षिणा प्रदान की जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक यागों के अन्तर्गत पाँच अंग एक दूसरे से सम्बन्धित ही नहीं अपितु पूर्णतया अन्योन्याश्रित भी हैं। इन्हीं पंचावयवों से यज्ञांगी की पूर्णता सम्भव होती है।

१. देवता

आचार्य यास्क के अनुसार - "देवता शब्द दान देने, द्योतित होने, दीप्तिमान होने तथा द्युस्थानी होने के कारण सिद्ध होता है।[२५] यज्ञ में यजमान की मनोकामनाओं की पूर्तिरूप दान कर्म करने के कारण देवतापद का यह निर्वचन अर्थ संगत ही है।

वास्तविकता यह है कि यज्ञ में अर्पित हवि एक मात्र देवताओं को ही प्राप्त होती है, जिसे प्राप्त कर वे प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नता ही यजमान का कल्याण है। देवता दो प्रकार के होते हैं, जो क्रमश: १. मनुष्य देव तथा २. भौतिक देव की संज्ञा से विश्रुत हैं।[२६] देवताओं को सत्यप्रिय कहा गया है।[२७] ये सत्य के पक्षधर एवं असत्य के विरोधी होते हैं। शतपथकार के अनुसार–"जो व्यक्ति विद्या ज्ञान से विभूषित, वेदज्ञ और महान् विपश्चित् होते हैं, उनकी गणना मनुष्य देव के अन्तर्गत की जाती है।[२८]" विद्वान् पुरुष भी देवता की संज्ञा से विभूषित होते हैं।

मनुष्यों में माता, पिता, आचार्य एवं पितरों को भी इसी क्रम में देवता के रूप में उद्धृत किया गया है।[२९] मानव में इसी देवत्वारोपण के कारण देवों और मनुष्यों का साहचर्य विहित है।[३०]

भौतिक देवों के अन्तर्गत जितने देवों की गणना की जाती है, उनमें अग्नि का प्रथम स्थान है।[३१] भौतिक देवों की तीन विधायें - १. आजानज देवता, २. कर्मदेवता एवं ३. आजान देवता[३२] के रूप में प्राप्त होती हैं। इनमें से प्रथम दो कोटियों के देवता सभी अग्नि के माध्यम से ही हवि को ग्रहण करते हैं। इसलिए अग्नि को देवता का मुख, सेनानी, गोपा एवं अश्व कहा गया है।[३३] इतना ही नहीं, ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार तो अग्नि ही सर्व देव हैं।[३४] यज्ञों में देवों की प्रधानता उनमें निहित दान, गुण एवं शक्तिमत्ता के आधार पर निश्चित होती है। प्रत्येक यज्ञ किसी न किसी कामना विशेष में अनुष्ठेय हैं। कामनाओं को पूर्ण करने वाले देवताओं का उनमें आह्वान होता है। प्रत्येक यज्ञ के एक अथवा अनेक प्रधान देवता होते हैं। उनके सहचारी अनेक देवों, देवियों को भी हवियों का अर्पण उन्हीं के साथ किया जाता है। इस प्रकार यज्ञ में प्रधान यागों के देवों का अपना पृथक् रूप में अस्तित्व दृष्टिगत होता है।

ध्यातव्य है कि प्रधान यागों में अभीष्ट हव्य द्रव्यों एवं देवताओं का विधान अनिवार्यतः किया जाता है। विना देवताह्वान किये यज्ञानुष्ठान सम्भव नहीं है। अतः देवों को देय हवियों का विधान कर उन्हें तृप्त करना यजमान के लिए अनिवार्य होता है।

यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से 'एक सत्' के रूप में देवताओं की एकात्मकता ही सिद्ध होती है,[३५] तथापि ऋचाओं से लेकर परवर्ती साहित्य तक में बहुदेववाद का प्रतिपादन हुआ है। आचार्य यास्क ने पृथ्वी स्थानी, अन्तरिक्ष स्थानी एवं द्युस्थानी के रूप में देवों का त्रिधा विभाजन किया है।[३६] यागों के अन्तर्गत देवों का आह्वान उनसे सम्बन्धित ऋचाओं, यजुषों एवं साम मन्त्रों द्वारा ही किया जाता है। इससे वे यज्ञ-कर्म में विनियुक्त होते हैं। मन्त्र किसी और देवता का नहीं, अपितु उसी देवता का होना चाहिए, तभी यज्ञ-कर्म की सफलता

सम्भव है।

२. द्रव्य

हवि पदार्थों की संज्ञा द्रव्य है। देवताओं की प्रसन्नता हेतु उनके अभीष्ट पदार्थों का अर्पण अनिवार्य है। इनकी हविष् संज्ञा है। वास्तव में देवताओं के निमित्त अग्नि में प्रक्षिप्त यज्ञ के साधन भूत द्रव्य को हवि कहते हैं। ये अग्रलिखित तीन प्रकार के होते हैं-

(१) आहुति द्रव्य

आज्याहुति और सोमाहुति दो प्रकार के आहुति द्रव्य होते हैं। सोमाहुति केवल सोम यागों के निमित्त प्रयुक्त की जाती है। यह सोम नामक लता से निकाले गये रस की आहुति है। आज्याहुति का प्रयोग हविर्यज्ञ एवं पशु आदि सभी यज्ञों में किया जाता है।

(२) होम द्रव्य

तिलादि को होम द्रव्य कहते हैं। पय, दधि, घृत, तैल, यवागू, तन्दुल, ओदन, मांस, सोम रस और माष ये दश पदार्थ होम द्रव्यों के अन्तर्गत आते हैं।

(३) याग द्रव्य

याग द्रव्य के अन्तर्गत आज्य, पृषदाज्य, तानूनप्त्राज्य, आमिक्षा, वाजिन्, चरु, पुरोडाश, वपा, अपूप, सक्तु, सुरा और सोम नामक बारह पदार्थों की गणना की गयी है। इन पदार्थों में हवि, सोम एवं मांस द्रव्यों की प्रधानता रही है। इनकी प्रधानता के ही आधार पर हविर्यज्ञ संस्थाक, सोमयज्ञ संस्थाक तथा (मांस) पाकद्रव्य संस्थाक तीन कोटियों में यज्ञों का विभाजन किया गया है। हवियों के अर्पणरूप कर्म से ही यजमान अपनी कामनाओं की पूर्ति में क्षम होता है तथा यज्ञ-फल के रूप में प्रभूत द्रव्यार्जन कर लेता है। अतः द्रव्य यज्ञ का अपरिहार्य अंग है।

३. मन्त्र

आचार्य यास्क के अनुसार मन्त्र का तात्पर्य मनन करने से है।[३७] मन्त्रों का दर्शन आप्तज्ञानी ऋषियों को ही हुआ है।[३८] यज्ञों में

स्थान-स्थान पर मन्त्रोच्चार का विधान अनिवार्यत: विहित है। मन्त्र अद्‌भुत शक्ति वाला वह शब्द समूह है, जिसके सस्वर शुद्ध वाचन द्वारा देवता भोग्य हवि को प्राप्त करते हैं। मन्त्र द्वारा आहूत होने पर ही देवता यज्ञ में आकर अपना भाग ग्रहण करते हैं। विना मन्त्र के प्रयोग का यज्ञ मूक होता है। यज्ञ कर्म में मन्त्रों का विनियोग कर्म की समृद्धि करता है। आचार्य ऐतरेय का विचार इस प्रसंग में स्मर्तव्य है कि जो कर्म किया जा रहा है, यदि उसे ऋचा भी कहती है तो यही यज्ञ की सृमृद्धि है तथा यही रूप समृद्धि भी है।[३९] इतना ही नहीं, मन्त्र-पाठ चित्त को महान् शान्ति भी प्रदान करता है तथा उसका शुद्ध उच्चारण अनिष्ट का निवारण कर कल्याण प्राप्ति में सहयोगी होता है।

किन्तु इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि मन्त्रों के विनियोक्ता ऋत्विजों को मन्त्रोच्चारण में स्वर, वर्ण एवं शब्द आदि से सम्बन्धित उच्चारणजन्य दोषों से सर्वदा बचना चाहिए, नहीं तो लाभ करने के स्थान पर यही मन्त्र वज्र का रूप धारण कर यजमान का सर्वनाश कर देता है।[४०]

४. ऋत्विक्

यज्ञ मधुसूदन के अनुसार-"जो ब्राह्मण यजमान द्वारा दक्षिणाद्रव्यों से क्रीत होकर यजमान के कल्याणार्थ यजनशाला के अन्तर्गत कर्म करता है, उसे ऋत्विक् कहते हैं। अथवा ऋतुओं में यजन सम्पन्न करवाने के कारण वह ऋत्विज् कहलाता है।"[४१] ऋत्विज् बनने का अधिकार एक मात्र ब्राह्मण को है। क्षत्रिय, वैश्य आदि इसके अधिकारी नहीं होते।[४२]

ऋत्विजों को आर्षेय[४३], अनूचान[४४], साधुरण वाग्मी[४५], अन्यूनांग[४६], अनतिरिक्तांग, द्वय सम[४७], अनतिकृष्ण[४८] तथा अनतिश्वेत[४९] होना चाहिए। यजमानों को अपने यज्ञ में ऋत्विजों के चयन में विद्या, कर्म और जन्म का विशेषरूप से ध्यान रखना आवश्यक माना गया है।[५०] उनकी परीक्षा वर्ण, गोत्र, प्रवर, वेद, शाखा और सूत्र इन छ: मापदण्डों के अनुसार की जानी चाहिए।[५१] वेदज्ञता के आधार पर होता, अध्वर्यु,

उद्गाता एवं ब्रह्मा नामक चार प्रकार के प्रधान ऋत्विजों की यज्ञों में अनिवार्यता होती है। ये चारों प्रधान ऋत्विज् अपने-अपने वेद से सम्बद्ध होकर अपने यज्ञिय कर्म को निष्पन्न करते हैं।[५२] होता का सम्बन्ध ऋग्वेद से होता है। वह ऋग्वेद की ऋचाओं के माध्यम से देवताओं का यज्ञ में आह्वान करता है ।[५३] अध्वर्यु यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाला ऋत्विज् है। उसका कर्म यजुषों के माध्यम से यज्ञ में अनुष्ठान करना है। उद्गाता सामवेद से सम्बन्धित होता है। सामों का उच्च स्वर से गायन करना ही उसका कार्य है।[५४] ब्रह्मा का सम्बन्ध अथर्ववेद से जोड़ा गया है। तथापि वह अथर्ववेद के अतिरिक्त तीनों वेदों में विहित कर्म का ज्ञाता होता है।[५५] यज्ञ में यथावसर अनुज्ञा प्रदान करना तथा विविध अनुष्ठानों का पर्यवेक्षण करते रहना उसका प्रमुख कर्तव्य है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार - "यही यज्ञ है, वाणी तथा मन इस यज्ञ के दो मार्ग हैं। प्रथम मन मार्ग का संस्कार ब्रह्मा अपने मन के द्वारा करता है तथा दूसरे का संस्कार होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता अपने मन्त्रोच्चारण रूप वाणी के माध्यम से सम्पन्न करते हैं।"[५६] यज्ञ में हुई त्रुटियों का शोधन ब्रह्मा प्रायश्चित विधान देकर कराता है।[५७]

उपर्युक्त ऋत्विजों में प्रत्येक के तीन-तीन सहायक ऋत्विज् भी होते हैं। मैत्रावरुण, अच्छावाक् तथा ग्रावस्तोता होता के सहायक एवं प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता अध्वर्यु के सहायक हैं। इसी प्रकार उद्गाता के सहायक प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य तथा ब्रह्मा के सहायक ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता हैं। इस प्रकार चार प्रमुख ऋत्विज् एवं बारह उनके सहायकों को मिलाकर ऋत्विजो की कुल संख्या सोलह हो जाती है।[५८] 'सदस्य सप्तदशा ऋत्विजों भवन्ति' के आधार पर कतिपय आचार्यों ने सदस्य नामक एक सत्रहवें ऋत्विज् को भी नामित किया है। बौधायन ने सदस्य के अन्य तीन सहयोगी ऋत्विजों का भी विवरण दिया है।[५९] आश्वलायन ने कौषीतक श्रुति के अनुरोध से ब्रह्मा को यज्ञ का द्रष्टा और सदस्य को उपद्रष्टा कहा है।[६०]

ज्ञातव्य है कि प्रत्येक यज्ञ संस्था के ऋत्विजों की संख्या एक

समान नहीं है। किन्हीं-किन्हीं यज्ञ संस्थाओं में १६ अथवा १७ ऋत्विजों की आवश्यकता होती है, सब में नहीं। अग्निहोत्र में मात्र एक ऋत्विज्-अध्वर्यु की, अग्न्याधेय, दर्शपूर्णमास एवं अन्य इष्टियों में चार ऋत्विजों-अध्वर्यु, आग्नीध्र, होता एवं ब्रह्मा की तथा चातुर्मास्यों के लिए पाँच ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। दर्शपूर्णमास के लिए चार पुरोहित तथा प्रतिप्रस्थाता अत्यावश्यक हैं। पशुबन्धयाग में मैत्रावरुण नाम का एक छठा पुरोहित भी होता है। सोमयागों के लिए समस्त सोलह ऋत्विजों की आवश्यकता होती है।[६१] साकमेध नामक चातुर्मास्य पर्व में आग्नीध्र को 'ब्रह्मपुत्र' की संज्ञा दी गयी है।[६२]

ऋतु याजक होने के फलस्वरूप यजमान को सत्रहवें ऋत्विक् के रूप में भी स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में लाट्यायनाचार्य ने 'सर्पत्सु न शून्यं सदः कुर्यात्' कहकर सम्पूर्ण सवन संस्थाओं में यजमान और ऋत्विजों के प्रसर्पण के पश्चात् सदोमण्डप में सदस्य को अवस्थित रहने का उल्लेख किया है। यह विधान ऋत्विजों से सदस्य के सर्वथा पृथग्धर्मत्व की पुष्टि करता है। अतएव अब सदस्य अवश्यमेव यजमान और ऋत्विजों से पृथक् अठारहवाँ व्यक्ति मन्तव्य है। किन्तु ब्राह्मणकारों ने सत्रहवें - ऋत्विज् की नियुक्ति का निषेध भी किया है।[६३] इस विवेचन से यज्ञ के ऋत्विज् नामक अंग के विषय में स्पष्ट होता है कि यज्ञ के अनुष्ठाता ये ही ऋत्विज् जन हुआ करते हैं। इन्हें सम्पूर्ण यज्ञ का आनुष्ठानिक ज्ञान होता है। मन्त्र विनियोग, कामनापूरक देवताओं एवं यज्ञों का निर्धारण यही करते हैं। इनकी कुशलता एवं दक्षता यज्ञ की सफलता को प्रभावित करती है। अकुशल ऋत्विजों से सम्पादित याग नाशकारी होता है। अतएव यजमानों के लिए अत्यावश्यक है कि वे ऋत्विग्वरण करते समय उनकी परीक्षा अवश्य करवा लें।[६४]

५. दक्षिणा

दक्षिणा पद दक्ष्+इनन् (दक्षिण) आच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस पुल्लिग पद का अर्थ ''दाहिनी ओर'' या ''दक्षिण दिशा में'' होता है, तथा स्त्रीलिंग में दक्षिण शब्द में टाप् प्रत्यय लगाने पर निर्मित इस पद का अर्थ - ''दक्षिण दिशा अथवा

यज्ञ कर्म की सम्पन्नता पर ऋत्विजों को दिया जाने वाला द्रव्य'' है। दक्ष् धातु के माध्यम से दक्षिणा पद की समृद्ध्यर्थकता सिद्ध होती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, ''जब यज्ञ का बध हो गया तथा वह शक्ति हीन बन गया, तब देवों ने दक्षिणाओं द्वारा यज्ञ को परिपूरित किया। यह यज्ञ दक्षिणाओं द्वारा दक्ष हो गया। इसीलिए इसका नाम दक्षिणा पड़ा।[६५]

यास्क भी समृद्ध्यर्थक दक्ष् धातु से ही दक्षिणा पद की निर्मिति स्वीकार करते हैं।[६६] इस समर्थन में उन्होंने लिखा है कि यज्ञ में जो कुछ न्यून होता है उसे दक्षिणा दूर करती है तथा प्रदक्षिणा क्रम से अथवा दक्षिण दिशा की ओर आसीन रहने वाले ऋत्विजों को दाहिने हाथ से दिये जाने के कारण इसका नाम दक्षिणा पड़ा। यज्ञ की दक्षता के कारण ही दक्षिणा का महत्त्व गोपथकार ने भी स्वीकारा है।[६७]

यज्ञान्त में यजमान द्वारा ऋत्विजों को पारश्रमिक-स्वरूप दिये जाने वाले द्रव्य को दक्षिणा कहते हैं। दक्षिणा रहित यज्ञ निष्फल होता है।[६८] शतपथ ब्राह्मण भी दक्षिणा रहित यज्ञ का निषेध करता है।[६९] अतएव यज्ञ से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिए यथाविहित दक्षिणा प्रदान करना श्रेयस्कर होता है। सामान्यतया दक्षिणा में गौ, हिरण्य, भूमि, अन्न, वस्त्र अथवा अन्य कोई वस्तु देय होती है।[७०] अग्नि पुराण के अनुसार स्वर्ण, अश्व, तिल, गज, भूमि, दासी, रथ, गृह, कन्या एवं कपिला गौ आदि दक्षिणा के सर्वोत्तम पदार्थ है।[७१] मीमांसा सूत्र में गौ की भाँति अश्व को भी दक्षिणा देने का विधान है।[७२] ऋत्विजों के कर्म भेद से दक्षिणा-द्रव्य और उसके परिमाण में भी भेद होना स्वाभाविक है।

स्मर्तव्य है कि यज्ञ में सर्वोत्तम द्रव्य ही दक्षिणा के रूप में प्रदेय है। वैदिक काल से ही गाय दक्षिणा के देय पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ एवं पवित्र मानी जाती रही है। यही कारण है कि परवर्तीकाल में गौ की दक्षिणा इतनी श्रेष्ठ मानी गयी कि दक्षिणा एवं गौ एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं, जैसा कि उपनिषद्कार ने दक्षिणा शब्द को गौ पद के स्थान पर ही प्रयुक्त कर उसी से गौ अर्थ का बोध करा दिया है।[७३]

यज्ञों में देय दक्षिणा पदार्थों के आधार पर ऋत्विजों का चतुर्धा वर्गीकरण[७४] प्रस्तुत किया गया है। प्रथम भाग में क्रमशः होता, अध्वर्यु,

उद्‌गाता और ब्रह्मा आते हैं, जो पूर्ण दक्षिणा के अधिकारी होते हैं। द्वितीय भाग में मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता और ब्राह्मणाच्छंसी नामक ऋत्विजों की गणना है, जिन्हें प्रथम भाग की दक्षिणा की अपेक्षा आधी दक्षिणा दी जाती है। अतएव ये ''अर्धिन्'' की संज्ञा से अभिहित किये गये हैं।[७५] तृतीय भाग में आने वाले ऋत्विज् क्रमशः अच्छावाक्, नेष्टा, प्रतिहर्ता और आग्नीध्र हैं, जिन्हें प्रथम भाग की दक्षिणा का तृतीयांश दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप उन्हें तृतीयिन् की संज्ञा दी गयी है।[७६] चतुर्थ भाग में आने वाले ऋत्विज् क्रमशः ग्रावस्तोता, उन्नेता, सुब्रह्मण्य और पोता हैं। इन्हें प्रथम भाग की दक्षिणा का चतुर्थांश प्रदान किया जाता है। इसलिए इन्हें 'पादी' की उपाधि से विभूषित किया गया है।[७७]

वैदिक धर्म कर्मकाण्ड प्रधान है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में यज्ञों की आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं, रहस्य तथा परिणाम आदि का प्रतिपादन किया गया है।यज्ञ की अनेक विधायें मूलतः 'श्रौत' एवं 'स्मार्त' नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रुति-प्रतिपादित होने के कारण श्रौतयज्ञ की महत्ता सिद्ध है। इन यागों के पाँच अंग अनिवार्यतः परिपूरणीय हैं। इनकी परिपूर्णता ही यज्ञ की सफलता है। इनमें किसी की भी न्यूनता तथा विकलांगता से यजमान की कांक्षापूर्ति जैसी क्षति ही नहीं होती, अपितु उसे विनाशकारी परिणाम भी प्राप्त हो सकते हैं। इसीलिए समग्र श्रौत-यज्ञों की सफलता हेतु इनका यथा विहित विधानों के अनुसार अनुष्ठान सम्पन्न किया जाना नितान्त आवश्यक एवं वैज्ञानिक है।

यज्ञ का वर्गीकरण तथा संस्थाएँ

यज्ञों का वर्गीकरण उनके स्वरूप, अग्नियों तथा द्रव्यादि के आधार पर किया गया है।

(1) स्वरूप के आधार पर

यज्ञों के स्वरूप के आधार पर प्रकृति एवं विकृति दो प्रकार के यागों के भेद प्राप्त होते हैं। जिस याग विशेष में यज्ञ के समस्त अंगों का सम्यक् रूपेण विधान किया जाता है, उसे प्रकृतियाग कहते हैं[७८] तथा जिसमें केवल विकृतियों का विधान वर्णित होता है उसे विकृति

याग[79]। इस याग के अनुष्ठान में प्रकृति यागों का विधान अवश्यमेव करणीय है। वस्तुतः प्रकृतियाग विकृतियागों के आधार हैं। प्रकृतियागों के अनुष्ठान हेतु विकृतियागों की कोई भी उपादेयता नहीं होती। अग्निष्टोम क्रमशः हविर्यागों एवं सोमयागों का प्रकृतियाग है, जिसकी विकृतियाँ क्रमशः होम, इष्टि, पशु और सभी सोमयाग हैं। कतिपय याग तो प्रकृति और विकृति दोनों रूपों में होते हैं, यथा चातुर्मास्य याग का प्रथम पर्व वैश्वदेव - यह दर्शपूर्णमास का प्रकृति याग होने पर भी चातुर्मास्य के द्वितीय पर्व वरुणप्रघास के लिए प्रकृति-याग है। ऐसे ही द्वादशाह, अग्निष्टोम की विकृति होने पर भी सत्रयागों का प्रकृति याग है। कुछ याग तो ऐसे भी हैं, जो न तो प्रकृति हैं और न विकृति। जैसे चातुर्मास्य यज्ञ के प्रसंग में गृहमेधीय इष्टि।

(2) अग्नियों के आधार पर

समस्त यागों का अनुष्ठान आहवनीय, गार्हपत्य, आवसथ्य, दक्षिण एवं सभ्य नामक पञ्चाग्नियों में सम्पादित किया जाता है। इनमें श्रौत एव स्मार्त नामक अग्नियों का द्विधा विभाजन भी किया गया है। श्रौताग्नियों के अन्तर्गत आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि आते हैं। इस अग्नि में सम्पन्न हुए यागों की वैदिक अथवा श्रौतयज्ञ तथा गृह्याग्नि में अनुष्ठित होने वाले यागों की गृह्य यज्ञ या स्मार्त अथवा पाकयज्ञ संज्ञा है। श्रौतयागों का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन क्रमशः संहिता, ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों में किया गया है, जबकि स्मार्त यागों का विधि-विधान गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है। ब्राह्मणकार ने यज्ञ को विवृत सप्त तन्तु वाला तथा इक्कीस संस्था युक्त बतलाया है,[80] जिनमें से सप्त संस्थाएँ सोमयाग, सप्त पाकयाग तथा सप्त हविर्याग के अन्तर्गत आती है।[81] इनमें से सप्त पाकयज्ञ की संस्थाए गृह्याग्नि में अनुष्ठित की जाती हैं तथा अवशिष्ट चौदह संस्थाएँ श्रौताग्नि में।

(3) द्रव्यों के आधार पर

द्रव्यों के अनुसार की जाने वाली इष्टियों का सम्बन्ध स्मार्ताग्नि से है, जिसकी स्थापना विवाहित व्यक्ति को करनी चाहिए। इस अग्नि में पाक संस्था के होमादि का अनुष्ठान विहित है। इसी कारण इन्हें

स्मार्तयाग की संज्ञा दी जाती है। ये याग यजमान और उसकी पत्नी के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। इनमें पुरोहितों की उपेक्षा नही होती। इन यागों में पकाये गये अन्न की आहुतियाँ दी जाती हैं। गौतमधर्मसूत्र में हव्य द्रव्यों के अनुसार यज्ञों का त्रिधा विभाजन अग्रलिखित रूप में मिलता है, जो यज्ञ की विभिन्न संस्थाओं के रूप में विश्रुत हैं।

(१) पाकयाग संस्था

पाक-यज्ञ की कुल सात संस्थाएँ है - अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री और वाश्वयुजी।[८२]

(२) हविर्याग संस्था

इसके अन्तर्गत अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढ पशुबन्ध और सौत्रामणी आते हैं।[८३]

(३) सोमयाग संस्था

इसके अन्तर्गत अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम आते हैं।[८४] इसके अतिरिक्त ऐतरेयाचार्य के अनुसार यज्ञ के अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम याग नामक पाँच ही प्रकार होते हैं।[८५] उन्होंने अग्निष्टोम माहात्म्य निरूपण में पाकयज्ञों, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सोम, चातुर्मास्य, दाक्षायण यज्ञ और पशुबन्ध यागों का वर्णन किया है[८६], जबकि संवत्सर-सत्र-निरूपण के प्रसंग में शतपथकार ने अग्निहोत्र, पूर्णमास, पिण्ड पितृयज्ञ, दर्शेष्टि, आग्रायण चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सोमयागों के नामों की गणना की है।[८७] ध्यातव्य है कि उन्होंने एक स्थान पर अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य और पशुबन्ध यागों को परिगणित किया[८८] तो दूसरे स्थान पर पशुबन्ध को इस सूची से पृथक् कर दिया है।[८९] लाट्यायनाचार्य ने हविर्याग संस्था के अन्तर्गत अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, सौत्रामणी और पाकयज्ञ का उल्लेख किया है[९०] तथा बौधायनाचार्य के अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य तथा दाक्षायण यज्ञों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के मत का आदर करते हुए सौत्रामणी याग का भी परिगणन किया है।[९१]

वशिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुसार ब्राह्मण को अग्नियों का आधान करके क्रम से दर्शपूर्णमास, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, पशु और सोमयागों का अनुष्ठान करने का विधान किया गया है।[९२] मनुस्मृतिकार ने अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य और पशु याग के रूप में यज्ञ-क्रम का उल्लेख किया है।[९३] गोपथ ब्राह्मण में यज्ञ-क्रम अग्रलिखित क्रम में दिया गया है–अग्न्याधेय, पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, पशुबन्ध अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध।[९४] शांखायन गृह्यसूत्र में तीन संस्थाओं–पाक संस्था, हविः संस्था और सोम संस्था तथा प्रत्येक के सात-सात भेदों का उल्लेख मिलता है।[९५] कौशिक सूत्र में भी यज्ञ की इक्कीस संस्थाओं का वर्णन किया गया है।[९६]

उपर्युक्त मत-मतान्तरों का सम्यक् परिशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ की तीन विधाएँ एवं इक्कीस संस्थाएँ हैं, जिन्हें श्रौत अथवा वैदिक तथा स्मार्त अथवा पाक यज्ञों के रूप में द्विधा विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त अवश्यमेव करणीय नित्यकर्म के रूप में पञ्चमहायज्ञों–ब्रह्म यज्ञ, पितृयज्ञ, देव यज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है, जिनके सम्पादन से मानव पञ्च पाप कर्मों से मुक्त होता है।[९७] इन यज्ञों की अनिवार्यता गृहस्थों के लिए विहित है। सप्त हविर्यज्ञों, सप्त सोमयज्ञों तथा सप्त पाकयज्ञों का अनुष्ठान सकल कामनाओं की पूर्ति हेतु करणीय है।

प्रत्येक यज्ञ किसी-न-किसी विशिष्ट कांक्षा की पूर्ति हेतु विहित होता है। कतिपय ऐसे भी याग हैं, जिनके अनुष्ठान से अनेकशः फलों की प्राप्ति सम्भव है। सकल वैदिक वाङ्मय इन्हीं यागानुष्ठानों की आनुष्ठानिक प्रक्रिया, विमर्श तथा रहस्य का प्रतिपादन करता है।

चातुर्मास्य यज्ञ : अर्थ, माहात्म्य एवं पर्व

चार-चार महीने पर सम्पन्न किये जाने वाले पर्वों से युक्त यज्ञ को चातुर्मास्य यज्ञ कहते हैं।[९८] चातुर्मास्य याग पद का शाब्दिक अर्थ है–चार मास में सम्पादित होने वाली इष्टि। हविर्यागों के अन्तर्गत इस याग का अतिशायी महत्त्व है। ब्राह्मणकारों के अनुसार–चातुर्मास्य याग

भैषज्य यज्ञ है। यह प्रत्येक ऋतु की सन्धियों में अनुष्ठित होता है। ऋतुओं के सन्धिकाल में ही रोगों की उत्पत्ति होती है,[९९] जिन्हें शमन करने के उद्देश्य से भी यह अनुष्ठेय है। ऋतुओं के अनुरूप अनुष्ठित होने से यह ऋतु सम्बन्धी यज्ञ है। इस यज्ञ को करने वालों का पुण्य कभी नष्ट नहीं होता। इसका अनुष्ठाता संवत्सर को पूर्णरूप से जीतकर ऋतु स्वरूप होकर देवों को प्राप्त हो जाता है।

देवों में तो क्षय है ही नहीं, अतः चातुर्मास्य यज्ञ के अनुष्ठान को सम्पन्न करके मानव अक्षय्य सुकृत को प्राप्त करता है।[१००] धर्मशास्त्र के अनुसार–चातुर्मास्य याग के सम्पादन से यजमान स्वर्ग को प्राप्त करता है।[१०१]

इसके पर्वों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। कतिपय व्यवस्थाकार इसे वैश्वदेव, वरुणप्रघास तथा साकमेध इन तीन पर्वों[१०२] में विभक्त करते हैं। परन्तु अधिकतर आचार्यों ने वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध तथा शुनासीरीय इन चार पर्वों में विभाजन करके इसका अनुष्ठान सम्पन्न करने का विधान किया है।[१०३] शोध का प्रमुख विवेच्य विषय होने के कारण इससे सम्बन्धित समस्त ज्ञेय तथ्यों का उपन्यास सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध में दर्शनीय है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. ऋ०सं०, '१०.९०.१६, ''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।''
२. श०ब्रा०, १.७.४.५, ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्मः ।, १.१.१.१३, ''प्रजापतिर्वैर्यज्ञः।'' का०सं०, ३०.१०, ऐ०ब्रा०, ८.११.७.२७
३. दुर्गाचार्य कृत निरुक्त वृत्ति, १.२०, महाभारत ''वेदान विन्यास यस्मात् स वेद व्यास इति स्मृतः।''
४. श०ब्रा०, ४.३.४.३, ''एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः।''
५. वही, १.१.२.१३, ''यज्ञो वै विष्णुः।'' तै०सं०, १.७.४, ऐ०ब्रा०, १.१५
६. वही, १४.१.१.६, ''स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः।''
७. अथर्व०, ९.१०.१४, ''अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।''
८. ऋ०सं०, १.१७.७.४
९. मान०श्रौ०, ६.५.१.२.१६, वारा०श्रौ०. १.२.१.१ वैता० श्रौ०, ८.५
१०. ऋ०, १०.९०.९:
''तस्मात् यज्ञात सर्वहुतः ऋचः समानिजज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।''
वही, १०.९०.१०
''तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावौ ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः।।''

११. जैमिनीय मीमांसा, ''स्वर्गकामोयजेत।''

१२. मनु०, ३.७६, ''अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।''

१३. ऐ०ब्रा०, १.७, ''कल्पते यज्ञो पितस्यै जनताये यद्येवं विद्वान होता भवति।''

१४. श०ब्रा०, १३.५.४.१,: ''सर्वा ह पै पापकृत्यौ सर्वाब्रह्महत्यामहन्ति यो अश्वमेधेन यजेत।''

१५. तै०सं०, ५.३.१२.२, ''तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां यो अश्वमेधेन यजेत।'' य उचनमेवं वेद, का०सं०, १०.१०, वारा०श्रौ०, ३.४.५.३२

१६. श०ब्रा०, २.३.९.६, ''सर्वस्मात्पापमनौ निर्मुच्यतेय एवं विद्वानाग्निहोत्रं जुहोति।''

१७. का०सं०, १०.१०,
''अंहसा वा एष गृहीतौ यो भ्रातृव्यवानं
हस एव तेनमुच्यते यदिन्द्रायैन्द्रियवते।''

१८. श०ब्रा०, ६.२.२.१९, ''यथैवैतद्यजमानः पौर्णमासेनैव वृत्रं पाप्मानं हत्वा पहतपाम्येत्कर्मारमते।'' ष०ब्रा०, ३.१.३, ''पाप्मानं हैष हन्ति यो यज्ञते तमिमं पाप्मानं हतययौहराणीति।''

१९. पूर्व मीमांसा, १.१.२, शाबर भाष्य, ''यौ यागमनुतिष्ठति सो धार्मिकमित्याचक्षते।'' द्र० ना०उ०, ७९

२०. कात्या०श्रौ०, १.२.२: ''द्रव्यं देवता त्यागः।''

२१. सायण भाष्य–ऐ०ब्रा०, १.१.१, पृ० ७, ''उद्दिश्य देवतां द्रव्य त्यागो यागोऽभिधीयते।''

२२. मत्स्य पुराण, १४५.४४:
''देवानां देयहविषां ऋक् साम यजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।।''
निरुक्त, ३.१९, ''या कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः।''

२३. निघण्टु, ३.१७

२४. ऐ०ब्रा०, १.१.५, ''पाङ्क्तो वै यज्ञः।''

२५. निरक्त, ७.४.१५: ''देवः दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवति इति वा।''

२६. द्र०, वै०वा० का इ०, ब्राह्मण तथा आरण्यक खण्ड। पं० भगवद्दत्त (मूल लेखक) परिवर्धक और सम्पादक सत्यश्रवा, पृ० १८०

२७. ऐ०ब्रा०, १.७: ''सत्यसंहिता वै देवा:।''
२८. श०ब्रा०, २.२.२.६, २.४.३.१५: ''ये ब्राह्मणशुश्रुषां सो नूचानस्ते मनुष्य देवा:'', वही, ३.७.३.१०
२९. तैत्तिरीयोपनिषद्–१.११.२: ''मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।''
३०. श०ब्रा०, २.३.४.४: ''उभये ह व इदमग्रे स हा सुदेवाश्च मनुष्याश्च।''
३१. ऐ०ब्रा०, १.१: ''अग्निर्वै देवानामवर्मो विष्णु: परम:।''
३२. द्र०, वै०सा०सं०, पृ० ५१६
३३. श०ब्रा०, २.५.१.८, ''अग्निर्वैदेवतानां मुखम्।'' ऐ०ब्रा०, १.६, कौषी०ब्रा०, ५. ६.७, ऐ०ब्रा०, १.२८ ''अग्निर्वैदेवानां गोपा।''
३४. ऐ०ब्रा०, १.१, अग्निर्वै सर्वा देवता: तथा ३.४
३५. निरुक्त, ७.२.५, पृ० ५: ''अग्नि: पृथ्वी स्थान: वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थान:, सूर्योद्युस्थान:।''
३६. ऋ०सं०, १.१६४.४६: ''इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निमाहु: अथो सदिव्य: स सपर्णो गरुत्मान एकं सत विप्रा: बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मात्रिश्वानमाहु:।''
३७. निरुक्त, ७.१२: ''मन्त्र मननात् मननाद् वै मन्त्रा:।''
३८. वृहद्देवता, १.२.३
३९. ऐ०ब्रा०, १.४.३: ''एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपं समृद्धं यत्कर्मक्रियमाणमृगभिवदति।''
४०. महाभाष्य–पस्पशाह्निक–''दुष्ट: शब्द: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। सा वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रु: स्वरतो पराघात्।।''
४१. यज्ञमधुसूदन:, पृ० ३, ''यो यजमानक्रीत: परार्थमन्तर्वेदिकर्म करोति स ऋत्विक्।''
४२. आप०श्रौ०, २४.१.२१, ''ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यम्।'' वारा०श्रौ०, १.१.१.२३, कात्या०श्रौ० १.२.२८, जै०सू०, १२.४.४.२–४.७, ६.६.१८, वाल्मीकि रामायण, १.३९.१३
४३. तै०सं०, ६.६ ''एष वै ब्राह्मण ऋषिराषेयो य: शुश्रुवान।'' श०ब्रा०, ४.६. ७.५, ष०ब्रा०, १.१.२९, सायण भाष्य, यज्ञ मधुसूदन, पृ० ४,''ऋषेरपत्यमार्षेय:।'' आदशयात् पुरुषादव्यवच्छिन्नमार्ष यस्य स आर्षेय:।''
४४. वही, पृ० ४: ''विद्यासम्प्रदानं कृतवान सो नूचान:।''
४५. वही, यो हि संस्कृतां वाचमुच्चारयति, बहुचरं बचनमनर्थकं यो न माषते मतिद्वैधे उत्पन्ने य: संशयच्छेता, यो हि पृष्ट: सनन्यायने प्रतिवचनं ददाति सर्वथा य: प्रतिवचन समर्थ: स्यात् स वाग्मी।''
४६. वही, पृ० ४: ''समुद्रो यज्ञ लक्षणशास्त्र प्रतिपन्नप्रमाणवत्ति यस्य गात्राणि मवेयु: स ए धौ न्यूनांगानतिरिक्तांग: कणि पंगुवाधिरापिभिन्नो: द्वयं गुष्ठादिर्भिन्नश्चेति वा।''
४७. वही,

''अधश्चौदर्धवश्च नामोस्तुसमो यस्मात् प्रमाणतः।
पादांगुष्ठांगविष्टव्यः स वै द्विसम उच्यते।।''

४८. वही: ''अति कृष्णो दग्धांगार सदृशः।''

४९. वही, ''अतिपूर्वतस्तु पाण्डवदामासः प्रकृतिविलक्षणः अग्निस्वामी बालः कृष्णोवृद्धः श्वेतौ। षोडश वर्षात् प्रागति बालः अशीतैरुर्ध्वमतिवृद्धः।''

५०. वही, पृ० ५:
''त्रीणि यस्यावदातानि विद्या कर्म च जन्म च।
स ब्राह्मणो भवदृत्विक् सः पारयति पारगः।।''

५१. यज्ञमधुसूदनः
''वर्णगोत्रप्रवरे लक्ष्येते जन्मकर्मणी।
वेदः शाखां च सूत्रं च कुले विद्यां प्रचक्षते।
वेदः शिक्षा च सूत्रं च कुलेकर्माभिचक्षते,
एवं कुले प्रतीतं तु व्यक्ति दोषे परीषयेत्।।''

५२. ऋ०, १०.७१.११,
''ऋचां त्वः पौषमास्ते पुपुष्वान गायत्रं त्वो गायति शवरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।''

५३. सायण भाष्य–''यो यजनीयान् देवानाहवयति स होता''

५४. ऋ०, २.४.३.१

५५. सायण ऋग्वेद भाष्यभूमिका– ''सचब्रह्मावेदत्रयोक्तसर्वकर्मभिज्ञः।''

५६. छा०उ०, ४.१.६.१-२, एष एव यज्ञस्य मनश्चवाक् च वर्तनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युद्गातारन्यतराम्।''

५७. यज्ञमधुसूदन, पृ० ६, ''सर्वेषां च कर्मापचारं स प्रायेण प्रायश्चित्तं करोति।''

५८. पी०वी० काणे, हि०ध०शा०, ग्रन्थ-२, पृ० ९८१, टि० २२२८, आश्व०श्रौ०, ४०.१.६, आप०श्रौ०, १०.१.९

५९. बौधा०श्रौ०, २.३

६०. आश्व०श्रौ०, ४.१.४.६, शां०श्रौ०, १३.१४.१, एग्लिंग से०बु०इ०, ४.३, नोट ३४.८, इण्डिशे स्टुडियन ९.३७५

६१. द्र० तै०ब्रा०, २.३.६, बौधा०श्रौ०, २.३

६२. आश्व०श्रौ०, २.१८.१२

६३. श०ब्रा०, १०.४.२.१९, यज्ञ मधुसूदन, पृ० ७, ''तस्यापि ऋतु याजकत्वेन ऋत्विकत्वाविशेषात ऋत्विक्छब्दो हि ऋतु याजके व्युत्पन्नो। तेनयजमानेपि स शब्दो न विरुध्यते।''

६४. सम्यक् अध्ययन हेतु द्र०–''श्रौतयागों में ऋत्विग्विधान'', डॉ० सुमन लता श्रीवास्तवा कृत अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, अवध विश्वविद्यालय, १९८९

६५. श०ब्रा०, ४.३.१.२: ''स एष यज्ञो हतो न ददक्षे। तं देवा दक्षिणाभिः अक्षयं तस्मात् दक्षिणा नाम्।''

६६. निरुक्त, १.३.९

६७. गो०ब्रा०, ३.१७

६८. देवीभागवत् पुराण, ९.४४.१५–अध्वरं दक्षिणाहीनं निष्फलं च निगद्यते।

६९. श०ब्रा०, १.२.३.४, ४.३.४.४-७, १.२.३.४, ''नादक्षिणेन हविषा यजेत।''

७०. यज्ञमधुसूदन, पृ० ४२: ''गौर्हिरण्यं भूमिरत्नं वासौन्यद्वा प्रतिपन्नं वस्तु दक्षिणात्वेन दीयते।''

७१. अग्नि पुराण, २०९.२४

७२. मीमांसा०, १०.३.६५, धेनुवच्च अश्वदक्षिणा।

७३. कठोपनिषद्, १.१.२, ''दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा विवेश।''

७४. यज्ञमधुसूदन, पृ० ६

७५. वही, पृ० ६: ''ये द्वितीया मैत्रावरुण्यादयस्ते प्रथम दक्षिणापेक्षया अर्धदक्षिणां लभन्ते। तस्मादर्धिनः।''

७६. वही, ''तृतीयांश दक्षिणां लभन्ते। तस्मातृतीयिनः।''

७७. वही, ''चतुर्थांश लभन्ते। इत्यस्ते ते पादिन् उच्यते।''

७८. अर्थ संग्रह–विधि प्रकरणम्, पृ० ९७: यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रखकृतिः। यथा दर्शपूर्णमासादिः। तत्प्रकरणे सर्वांगपाठात्।''

७९. वही, पृ० ९८: ''यत्र न समग्राङ्गोपदेशः सा विकृतिः।''

८०. गो०ब्रा०पू०, १.१२: ''स एतं विवृतं सप्ततन्तुमकविंशति संस्थंयज्ञमश्यत्।''

८१. गो०ब्रा०पू०, ५.२५: ''सप्तसुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञः सप्त तथैकविंशतिः।''

८२. गौ०ध०सू०, ८.१६, तु० बौधा०श्रौ०, २४.४:
''अष्टका पार्वणः श्राद्धं श्रावण्या ग्रहायणी।
चैत्रेयाश्वयुजीति सप्तपाक यज्ञ संस्थाः।''

८३. गौ०ध०सू०, ८.१७, बौधा०श्रौ०, २४.४:
''अग्न्याधेयमग्नि ह्रोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रायणं चातुर्मास्यानि निरुढपशुबन्धः सौत्रमणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः।''

८४. वही, ८.१८, तु०बौधा०श्रौ०, २४.४: ''अग्निष्टोमोत्यग्निष्टोम उक्थ्यषोडशी वाजपेयो तिरोत्रोप्तोर्याम इति सप्तसोम संस्थाः।''

८५. ऐ०ब्रा०, २.३.३.४, ''स एष यज्ञः पञ्चविधौग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासो चातुर्मास्यानि पशुः सोमः।''

८६. ऐ०ब्रा०, ३.४०

८७. श०ब्रा०, १२.३.५.३-१० तथा १४.२.२.४.८

८८. वही, १०.१.५.२

८९. वही, १.६.३.३६

९०. ला०श्रौ० ५.४.२३, ''तासां हविर्यज्ञ संस्थानामग्न्या धेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासो, चातुर्मास्यानि पशुबन्धः सोत्रामणि पाकयज्ञः।''

९१. बौधा०श्रौ०, २४.४, ''अथहविर्यज्ञ संस्थाः। अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रयण चातुर्मास्यानि दाक्षायणयज्ञः कौण्डपायिन्य इति। सौत्रामणिषु हैके व्रवते।''

९२. वशिष्ठ धर्मशास्त्र, ११.४.५-४.६, ''अवश्यं ब्राह्ममणौग्नीनादधीत। दर्शपूर्णमासावाग्रयणेष्टि चातुर्मास्य पशु सोमश्च।''

९३. मनुस्मृति, ५.२५-२६, ''अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्तेद्युनिशोः सदा। दर्शेन चार्षमाजान्ते पौर्णमासेन चैव हि। सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तपर्त्वन्ते द्विजोध्वरैः पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिलेर्मुखे।''

९४. गो०ब्रा०पू०, ५.७, ''अथातो यज्ञक्रमा अग्न्याधेयात्पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्राद्दर्शपूर्णमासो दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणाच्चातुर्मास्या नि चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमोग्निष्टोमाद्राजसूयोराजसूया दवाजपेयोवाजपेयादश्वमेधात् पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्वमेधः।''

९५. शां०गृह०सू०, १.१

९६. को०सू०, १३८, १३: ''एकविंशति संस्थौ यज्ञो विज्ञायते।''

९७. श०ब्रा०, ११.५.६.१, मनु०, ३.६८-७१:

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली प्रेषण्युपस्परः।
कण्डनी चोदकुम्भश्चबध्यते यास्तु वाह अन्।। ६८ ।।
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थ महर्षिभिः।
पञ्चकलृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनम्।। ६९ ।।
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमौ देवो बलिर्भूतोनृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। ७० ।।
पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।। ७१ ।।

९८. कात्या०श्रौ०, ५.१.१, ''चतुर्षु-चतुर्षु मासेषु भवति व्युत्पत्या तव भवाधिकारे चातुर्मासाद्यज्ञे त्रयो वक्तव्य इति वार्तिकम्। ला०श्रौ०, ५.१.१, अग्निस्वामी भाष्य-''चतुर्षु-चतुर्षु मासेषु क्रियन्त इति चातुर्मास्यानि।'' सत्या०श्रौ०, २.५.१, तै०ब्रा०, १.५.७.७, १.४.९, वै०को०, पृ० ३९५-३९७, गो०ब्रा०उ०, १.१९-२०, द्रा०श्रौ०, ५.१३.१, श०ब्रा०, २.५.२.४, ता०ब्रा०, १७.१३.७

९९. कौषी०ब्रा०, ५.१.१०-१२, गो०ब्रा०उ० भाग, १.१९-२०, शु०य०सं०, ३.५९, ''भेषजमसि भेषजं गवे श्वायपुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै।'' तै०ब्रा०, १.४.१०

१००. श०ब्रा०, २.६.३.१, ''अक्षय्य ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति।'' वैखा०श्रौ०, १९.३.८.३, जै०ब्रा०, ११.२.१२, शबर भाष्य, तै०ब्रा०, १.६.८, ता०ब्रा०, १७.१४.२, सत्या०श्रौ०, २.५.१

१०१. ध०शा०इ०, १.३१, पृ० ५३५

१०२. ला०श्रौ०, ५.१.१, ५.४.३, आप०श्रौ०, १.६.५.१, साम०ब्रा०, १.३.७-१०

१०३. शां०श्रौ० ३.१३.१-४, ''चातुर्मास्यानीति वक्ष्यमाणस्य वैश्वदेवादे: पर्व चतुष्टयस्य नामधेयम्।'' तै०ब्रा०, १.४.९-१.७.५, आश्व०श्रौ०, २.१४-१८.८, कात्या०श्रौ०, ५.१.१-५.१३.३, भा०श्रौ०, ८.१.१.२१, वैता०श्रौ०, ७.८-९.१०, सत्या०श्रौ०,२.५.१-२.५.६, बौधा०श्रौ०, ५.१-१८, मान०श्रौ०, १.७.१.१४, १.८.१.२१, वैखा०श्रौ०, १९.३-२०.१२, वारा०श्रौ०, १.७.१-१६, १.७.५.१-२८, वा०मा०श०ब्रा०, २.५.१, जै०ब्रा०, २.२२८-२३४, ता०ब्रा०, १७.१३-१४, कौषी०ब्रा०, ५.१.१-३.२-५, २.२५-१०.३४, गो०ब्रा०पू०, १.१९-२०-२६, शु०य०सं०, ३.४.४-६३, तै०सं० १.८.२-७, मै०सं०, १.१०.१-२०

द्वितीय अध्याय

चातुर्मास्य यज्ञ : एक ऐतिहासिक अनुशीलन

यज्ञ और वेद का सम्बन्ध तथा उनकी प्राचीनता

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यज्ञ-विद्या ही वेद-विद्या है। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति के द्वारा सर्वप्रथम ब्रह्म का सर्जन किया जाना उल्लिखित है।[१] ''यह ब्रह्म या त्रयी विद्या ही थी, जिसके द्वारा सृष्टि का विकास हुआ। अग्नि ही त्रयी विद्या का प्रतीक है।[२]''

भारतीय मनीषा 'वेद तथा यज्ञ' दोनों को अपौरुषेय मानती है। ये दोनों ही स्रष्टा की प्रथम कृतियाँ हैं। यहाँ वेद का तात्पर्य पुस्तकाकार वैदिक साहित्य से न होकर उस ब्रह्म से है, जिसके द्वारा सृष्टि का विकास हुआ। वेद को त्रयी विद्या भी कहा गया है। डॉ० अग्रवाल अग्नि को त्रयी विद्या का प्रतीक मानते हुए अग्नि और वेद का तादात्म्य स्थापित करते हैं। उनके अनुसार– ''अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन त्रयी विद्या के रूप हैं। इनमें ऋग्वेद पिण्ड या मूर्त्त का निर्माण करने वाला है। सामवेद उस मण्डल को घेरने वाली परिधि है, यजुर्वेद उसका केन्द्र है, जिसमें स्थिति, गति का निवास रहता है। प्रत्येक रचना एक-एक मण्डल का वृत्तात्मक चक्र है। जहाँ मण्डल है वहीं केन्द्र, व्यास और परिधि का सम्मिलित संस्थान रहता है। इस इकाई की संज्ञा ही त्रयीविद्या है।''[३]

पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार ''वेद ही यज्ञ के उद्भव स्थल हैं। यज्ञ के स्वरूप निर्माण के समय क्रमशः पहले यजुष् तदनन्तर ऋक् और फिर साम अपना भाग ग्रहण करते हैं। ये ही तीनों वेदक्रम से अनुप्रविष्ट होकर यज्ञ के स्वरूप का निर्माण करते हैं।[४]

यज्ञ का आधारिक वैज्ञानिक स्वरूप

डॉ० अग्रवाल अग्निहोत्र कर्म की व्याख्या सृष्टि-क्रम के रूप में करते हैं। वे लिखते हैं–''प्रत्येक गर्भित कोष (फर्टिलाइज्ड सेल) में जो स्पन्दन होता है, वह इसी होत्र-कर्म की पूर्ति के लिए है। वह बाहर से भूतों व पञ्चतत्त्वों को केन्द्र में खींचकर उसका संवर्धन करता है। इसमें दो प्रक्रिया दिखायी पड़ती है। एक अन्न-अन्नाद की प्रक्रिया है और दूसरी संवर्धन की प्रक्रिया। अन्न-अन्नाद का तात्पर्य यह है कि केन्द्र में बैठा हुआ अग्नि, जो अन्नाद है, बाहर से अपने लिए अन्न या सोम चाहता है। इसे अन्नाद अग्नि की भूख या अशनाया कहते हैं। यदि अग्नि को सोम न मिले तो यज्ञ की समाप्ति हो जाय। वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार जीवन के तीन विशेष लक्षण हैं। जहाँ भी जीवन रहता है, वहाँ इन तीनों की सत्ता पाई जाती है। उनमें पहला अन्न-अन्नाद का नियम है, जिसे वैज्ञानिक 'एसिमिलेशन' और 'एलिमिनेशन' की प्रक्रिया कहते हैं (अग्निनारयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे) । पोषण प्राप्त करने के बाद दूसरी प्रक्रिया संवर्धन की है, जिसे वैज्ञानिक भाषा में 'सेलफिशन, सेल-डिवीजन या ग्रोथ कहते हैं । इन दोनों के बाद जीवन का तीसरा लक्षण प्रजनन है। जिस बीज से प्राण की उत्पत्ति होती है, प्रजनन के द्वारा पुनः उसी बीज की सृष्टि प्रकृति का लक्ष्य है। बीज से बीज तक पहुँचना यही प्रकृति का चक्र है, जिसे ब्रह्म चक्र एवं संवत्सर-चक्र भी कहते हैं।.... इस संवत्सर के दो रूप हैं–एक चक्रात्मक, दूसरा यज्ञात्मक। पृथ्वी जितनी अवधि में एक बिन्दु से चलकर पुनः उसी बिन्दु पर लौट आती है, वह चक्रात्मक संवत्सर है, अर्थात् उतनी देर में काल का एक पहिया घूम जाता है, किन्तु उसका कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रहता। उस संवत्सर की अवधि में देव या अग्नि या शक्ति जो भी भूत पदार्थ बाहर से खींचकर अपने स्वरूप को ढाल लेती है, वही यज्ञात्मक संवत्सर है। अग्नि में सोम की आहुति इसका स्वरूप है।''[5]

पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी यज्ञ के पाँच रूपों पर प्रकाश डालते हैं, जो निम्न प्रकार हैं–

१. प्रकृति द्वारा सतत स्वयमेव संचालित यज्ञ स्वयंभू यज्ञ है। "इस स्वयंभू यज्ञ के साथ सम्बद्ध जो तीन वेद हैं, उन्हीं में इस चराचरात्मक सम्पूर्ण जगत् की सत्ता है।............त्रिवेदी के उत्पन्न होने पर उससे संसर्ग रखने वाला जब नया यज्ञ सम्पन्न होता है, तब नवीन वस्तु का निर्माण हो जाता है। ....स्वयंभू यज्ञ का आश्रय परमेष्ठी है। इस परमेष्ठी का अधिष्ठाता ईश्वर है। इसके तीनों वेद अथवा उसी प्रजापति से यह सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है। ये सब विषय पुरुषसूक्त में संकेतित हैं। यहाँ विराट् रूप क्षर पुरुष की उत्पत्ति बताकर उसी के अवयवों से यज्ञ कहा है और उसी पुरुष के अवयव भूत देवताओं को यज्ञ का कर्त्ता बताया है। दूसरे मन्त्र में उसी सर्वहुत यज्ञ से देवों की उत्पत्ति कहकर आगे सब पदार्थों की उत्पत्ति बतायी गयी है।[६]

२. .....प्राण, मन और वाक् का संकलन करने पर एक प्रजापति होता है। .....मन का प्राण में प्रविष्ट होना, उसका मन में आना और वही क्रिया वाक् के साथ होना, इस गमनागमन को यज्ञ कहना न्याय प्राप्त है। ऐतरेय महर्षि ने कहा है कि "वाचश्चित्तस्योत्तर क्रमोयज्ञः" अर्थात् मन का प्राण में आकर वाक् बनना तथा वाक् का पुनः मन में परिवर्तित होना, इस क्रम को यज्ञ कहते हैं।"

३. सोम के दो रूप हैं–एक आकाश स्थित सोम तथा दूसरा जिसके संयोग से रूप, रस, गन्ध आदि से पुष्ट पदार्थों का निर्माण होता है। "जब यह सोम दूसरे सोम से आघात-प्रत्याघात करता है, तब इस आघात से बल विशेष की उत्पत्ति होती है। यह बल 'सहः' शब्द से कहा जाता है। इस 'सहः' नामक बल से स्वभावतः अग्नि की उत्पत्ति हो जाती है।" इस सम्पूर्ण क्रिया को ही यज्ञ शब्द से अभिहित किया जाता है।

४. "सोम को अग्नि में हवन करते समय सोम अग्नि के रूप में चला जाता है। वह अग्नि ज्वाला रूप में शक्ति भर उठकर

शान्त हो जाता है और तत्पश्चात् सोम के रूप में ही बदल जाता है। यह अग्नि के सोम के रूप में और सोम के अग्नि के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया निरन्तर प्रचलित रहती है। इस परिवर्तित होने की प्रक्रिया को यज्ञ कहा जाता है।

५. सर्वादि प्रजापति का विस्तृत होना, जैसे यज्ञ बताया गया और सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति उस यज्ञ से निर्दिष्ट की गयी, वैसे ही प्रजाओं का निरन्तर प्रजनन जो अबाध गति से चल रहा है, वह भी यज्ञ के ही द्वारा चल रहा है। जिस प्रकार वस्तु स्वरूप रक्षा यज्ञ से ही सम्भव है, उसी प्रकार वस्तु समुत्पादन भी यज्ञ से ही सम्भव है।[७]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय मनीषा यज्ञ तथा वेद दोनों को ही सृष्टि का पूर्ववर्ती एवं उसका कारण मानती रही है। यज्ञ वेदाश्रित होता है और वह सम्पूर्ण सृष्टि का आदि कारण तथा सृष्टि-प्रक्रिया-संचालन का क्रियात्मक एवं वैज्ञानिक रूप है, जो प्रकृति द्वारा सतत स्वयमेव संचालित होता रहता है। गीता में सृष्टि के आदि में ही प्रजापति द्वारा यज्ञ के सृजन का उल्लेख आता है।[८]

पुस्तकाकार वेद तथा कर्मकाण्डीय यज्ञ का उद्भव तथा प्राचीनता

मानव द्वारा सम्पादित यज्ञिय कर्मकाण्ड उपर्युक्त प्रकृति यज्ञ प्रक्रिया के अनुकरण मात्र हैं, जिनका प्रचलन सृष्टि के वैज्ञानिक रहस्यों के समझने के साथ-ही-साथ होना सम्भाव्य है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि मानव सभ्यता के प्रारम्भ के साथ-ही-साथ कर्म-काण्डीय यज्ञों का भी प्रचलन हुआ होगा। इस तथ्य के संकेत हमें ऋग्वेद संहिता से ही मिल जाते हैं, जिसके अनेक मन्त्रों में बहुलता के साथ यज्ञ, मख, अध्वर, सवन आदि यज्ञ वाची शब्दों के साथ-ही-साथ होता, ऋत्विज्, पुरोहित, हवि अथवा द्रव्य तथा कतिपय यज्ञिय पात्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

विचारणीय है कि इस कर्म-काण्डीय यज्ञ तथा पुस्तकाकार वैदिक

संहिताओं का उद्भव किस काल में हुआ? वेदाश्रित होने के कारण यज्ञों के प्रचलन का वही काल सुनिश्चित होगा, जिसमें वेदों को पुस्तकों का रूप मिला। वेदों के अन्तः साक्ष्य से उनके काल का निर्धारण असम्भव ही है। पुराणों में वैदिक मन्त्र राशि को चतुर्धा विभक्त करके संहिताओं के रूप में उनके संकलन का श्रेय कृष्ण द्वैपायन व्यास जी को प्रदान किया गया है, जिनका आविर्भाव महाभारत काल में हुआ माना जाता है। परन्तु दुर्भाग्य से महाभारत युद्ध का समय भी निश्चित नही किया जा सका है। भारतीय परम्परा जहाँ इसे एक ओर ईसा पूर्व ३१३८-३७ की घटना मानती है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक विद्वानों ने इसका समय ईसा पूर्व १४०० अथवा ईसा पूर्व १००० के आस-पास तक निर्धारित किया है।[९]

यदि महाभारत युद्ध का काल निश्चित भी हो जाय तो भी हम यह मानने के लिए विवश हैं कि कृष्ण द्वैपायन व्यास वैदिक मन्त्रों के संकलनकर्त्ता मात्र हैं, उनके रचनाकार नहीं। निश्चित रूप से वे मन्त्र उनके सदियों पूर्व से प्रचलित थे। मुण्डकोपनिषद्[१०] तथा मत्स्यपुराण[११] में त्रेता युग में यज्ञ का उद्भव माना गया है। निश्चित रूप से यही काल वेद मन्त्रों के भी उद्भव का होना चाहिए। परन्तु पौराणिक युग-व्यवस्था को समझकर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उनका काल निर्धारित करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। हम मात्र इतना ही कह सकते हैं कि वेद-मन्त्रों का सृजन एवं यज्ञों का प्रचलन प्रागैतिहासिक युग के उस सुदूर काल में हुआ, जो तिमिराच्छन्न एवं अज्ञेय है।

सिन्धु-सभ्यता के कतिपय स्थलों में हवन कुण्ड के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि सिन्धु सभ्यता के काल में यज्ञों का प्रचलन था। सिन्धु-सभ्यता की प्रारम्भिक तिथि ३००० ईसा पूर्व के आस-पास मानी गयी है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि यद्यपि यज्ञों के उद्भव काल हमें ज्ञात नहीं हैं तथापि तीन हजार ईसा पूर्व के आस-पास निश्चित रूप से वे प्रचलित थे।

चातुर्मास्य यज्ञ : उद्भव तथा प्राचीनता

चातुर्मास्य यज्ञ भी प्रकृति द्वारा संचालित सृष्टि यज्ञ की व्याख्या सी करता है। पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, दर्शपौर्णमास यज्ञ, जिसमें

चातुर्मास्य यज्ञ अन्तर्निहित है, का सम्बन्ध प्रकृति की वैज्ञानिक यज्ञ-प्रक्रिया से जोड़ते हैं। उनका कथन है कि ''प्रकृति के द्वारा इस प्रकार के अनेक यज्ञ हो रहे हैं, उनमें से ही एक प्रकार के यज्ञ को उपर्युक्त आख्यायिका (शतपथ ब्राह्मण ११.४.१) में दर्शपौर्णमास कहा गया है, जिसका बालक के दाँत, केश, लोम उत्पन्न होने आदि से सम्बन्ध बताया गया है।'' इसी प्रकृति के वैज्ञानिक दर्शपौर्णमास याग के ''आधार पर कर्म-काण्ड की विधियों के अनुसार कृत्रिम दर्शपौर्णमास याग होता है।''[१२]

स्पष्टत: दर्शपौर्णमास मूलत: प्रकृति द्वारा सम्पादित यज्ञ का व्याख्याता तथा अनुयायी होने के कारण प्रारम्भिक कर्म-काण्डीय यज्ञों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है, जिससे सिद्ध होता है कि कर्म-काण्डीय यज्ञों के प्रारम्भिक काल से ही इसका प्रचलन हुआ होगा। चूँकि चातुर्मास्य यज्ञ दर्शपौर्णमास यज्ञ में ही अन्तर्निहित है, अत: वह भी उतना ही प्राचीन हैं, जितना कि स्वयं दर्शपौर्णमास। इस प्रकार, जैसाकि ऊपर तीन हजार ईसा पूर्व के आस-पास यज्ञों का प्रचलन अवधारित किया जा चुका है, यही काल दर्शपौर्णमास एवं चातुर्मास्य यज्ञ का मानना पड़ेगा।

चातुर्मास्य याग का क्रमिक ऐतिहासिक विकास

१. संहिताकाल में चातुर्मास्य यज्ञ

कर्म-काण्डीय यज्ञों में चातुर्मास्य यज्ञ का अतिशायी महत्त्व है। ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में शुनासीरौ[१३] तथा शुनाम[१४] शब्दों का उल्लेख हुआ है, जिन्हें चातुर्मास्य यज्ञ के चतुर्थ पर्व शुनासीरीय का द्योतक माना जा सकता है। चातुर्मास्य यज्ञ के महत्त्व को देखते हुए यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि ऋग्वेद संहिता के काल में अवश्यमेव यह यज्ञ प्रचलित रहा होगा।

यजुर्वेदीय उभय प्रस्थानों (शुक्ल एवं कृष्ण) में यागानुष्ठानों के विधानार्थ मन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है।[१५] वाजसनेयि संहिता के तृतीय

अध्याय में चातुर्मास्य याग के साकमेध पर्व से सम्बन्धित उपानुष्ठानों के निमित्त विनियोज्य मन्त्रों का क्रमशः विवरण मिलता है।[१६] ये मन्त्र वरुणप्रघास पर्व के अनुष्ठान में क्रमशः पत्नी के प्रश्नकाल में करम्भ पात्र होम, अवभृथ, स्थाली पाक एवं पितृ-कर्म तथा आहवनीय अग्नि के उपस्थान हेतु विनियुक्त किये गये हैं। इन मन्त्र-विनियोगों के माध्यम से यह प्रमाणित हो जाता है कि चातुर्मास्य याग का अनुष्ठान वाजसनेयि संहिता-काल में समुचित विधानों के साथ सम्पादित होता था।

सामवेद के सामन् प्रायः ऋचाओं के ऊपर आबद्ध हैं। इससे सामवेद संहिता का भी समर्थन पूर्व लिखित क्रम के अनुसार सिद्ध होता है। इस प्रकार ऋग्वेद के काल से लेकर अथर्ववेद के काल तक चातुर्मास्य याग का निरन्तर प्रचलित होना परिलक्षित होता है।

२. ब्राह्मणकाल में चातुर्मास्य यज्ञ

ब्राह्मणकाल में यज्ञों का विपुल विस्तार हुआ। इस काल में यज्ञ-प्रक्रिया को निश्चितता एवं उसके विधि-विधानों को विशदता प्रदान की गयी तथा उनका क्रमिक संघटन किया गया। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इनका सविस्तार एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है। यज्ञों में प्रमुख होने के कारण चातुर्मास्य याग का भी विशद वर्णन उनमें हुआ है।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थों में चातुर्मास्य याग के चारों पर्वों की प्रक्रिया का आद्योपान्त विवेचन प्राप्त होता है।[१७] इस सम्बन्ध में ये ब्राह्मण-ग्रन्थ स्वशाखानुगामी ऋत्विज् (होता) के कार्यों का सविधि विवेचन करते हैं। यजुर्वेदीय उभय प्रस्थानों (कृष्ण एवं शुक्ल) के अन्तर्गत इस याग के आनुष्ठानिक विधान पूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं। यद्यपि शाखान्तर प्रभावों से प्रक्रियाएँ यत्किञ्चित भिन्नता रखती हैं, तथापि सर्वत्र उनकी मौलिक एकता के ही दर्शन होते हैं। शुक्ल-यजुर्वेदीय (श० एव काण्व श०ब्रा०) में तथा कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण में चातुर्मास्य याग के चारों पर्वों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है,[१८] जिससे इस याग की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। सामवेदीय ताण्ड्य ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण एवं सामविधान ब्राह्मण इस ऋतु सम्बन्धी याग का विधान प्रस्तुत करते

हुए इसकी ऐतिहासिकता की पुष्टि करते हैं।[१९] सम्प्रति उपलब्ध अथर्ववेदीय एकमात्र गोपथ ब्राह्मण में भी इस याग का विधान वर्णित है।[२०]

३. आरण्यक काल में चातुर्मास्य यज्ञ

कर्मकाण्ड से ज्ञान काण्ड की ओर सम्प्रेरित करने वाले आरण्यक ग्रन्थों का समर्थन याज्ञिक विधानों को प्राप्त होता है। किन्तु इनमें किसी भी यज्ञ विशेष की आनुष्ठानिक प्रक्रिया को आलेखित नहीं किया गया है। तथापि किसी भी यज्ञ संस्था के इतिहास को ये ग्रन्थ अवश्यमेव अग्रेषित करते हैं। साथ ही इनमें यज्ञों के रहस्यों का उद्घाटन तथा उनकी दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। महाव्रत अनुष्ठान महानाम्नी ऋचाओं आदि की मीमांसा इसी के उदाहरण स्वरूप लिये जा सकते हैं। इसीलिए चातुर्मास्य याग के सम्बन्ध में ये ग्रन्थ पूर्णतया मौन हैं, किन्तु यज्ञ-संस्कृति के पोषक होने के कारण इनके भी काल में हम चातुर्मास्य यज्ञ का प्रचलन स्वीकार कर सकते हैं।

४. उपनिषत्काल में चातुर्मास्य यज्ञ

वेदों के कलेवर के रूप में विद्यमान उपनिषत्साहित्य भी यज्ञ-संस्कृति का पोषक है।[२१] यद्यपि इसमें भी आरण्यक ग्रन्थों की भाँति याज्ञिक प्रक्रिया का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन नहीं है, तथापि यज्ञ-संस्कृति-प्रवाह इन ग्रन्थों में भी दिखाई देता है, चाहे वह अग्नि चयन हो अथवा पञ्च महायज्ञादि। सम्पूर्ण उपनिषत्साहित्य ने ब्रह्मविषयक जिज्ञासा के शमनार्थ तथ्यों के प्रस्तुतीकरण में न्यूनाधिक रूप से यागानुष्ठानों की महत्ता को स्वीकार किया है। इससे चातुर्मास्य याग का क्रमिक ऐतिहासिक विकास इस काल तक स्वीकार किया जा सकता है।

५. श्रौतसूत्र काल में चातुर्मास्य यज्ञ

वेदाङ्ग साहित्य का सृजन अर्थावगमन तथा यागानुष्ठानों की उपकारिता के लिए हुआ है। यज्ञों के सम्पादन में विभक्तियों के विपरिणाम आदि के लिए व्याकरण, अनुष्ठान-काल-निर्धारण हेतु ज्योतिष, अर्थवत्ता तथा देवता परिज्ञान आदि के लिए निरुक्त, छन्द-विधान हेतु

छन्द: शास्त्र, मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण हेतु शिक्षा तथा सकल यज्ञ-संस्थाओं की आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं को क्रमबद्ध सुसंगठित एवं अल्पतम शब्दों के माध्यम से अर्थात्, सूत्र शैली में प्रणीत ग्रन्थों की संज्ञा कल्प है। इनकी विधाएँ क्रमश: श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र हैं, जिनमें सम्पूर्ण वैदिक एवं स्मार्त यागों का साङ्गोपाङ्ग विधान वर्णित है। सभी श्रौतसूत्र इस याग के अनुष्ठान की प्रक्रियाओं का उल्लेख करते हुए चातुर्मास्य याग की ऐतिहासिकता को समर्थित करते हैं। श्रौतसूत्रों में चातुर्मास्य यज्ञ के आनुष्ठानिक विधानों में भिन्नता वेदों की शाखाओं का प्रभाव है, जिनमें शाखागत मान्यताओं के अनुरूप यज्ञों की आनुष्ठानिक प्रक्रियाएँ यत्किञ्चित भिन्नता के साथ प्रतिपादित हुई हैं।

सूत्र साहित्य-काल प्राय: महात्मा बुद्ध का ही काल है। महात्मा बुद्ध ने कर्मकाण्डीय यज्ञों का विरोध किया था। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-ही-साथ इसका प्रभाव निश्चित रूप से कठिनाई से सम्पादित होने वाले इन कर्मकाण्डीय यज्ञों पर पड़ा होगा। फलस्वरूप बौद्ध धर्म के उत्कर्ष काल में इन यज्ञों, जिनमें चातुर्मास्य यज्ञ भी सम्मिलित है, का सम्पादन लगभग बन्द-सा हो गया। शुङ्गकाल में यद्यपि यज्ञों का पुनर्प्रचलन प्रारम्भ हुआ, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में अश्वमेध जैसे विशाल राजकीय यज्ञ ही प्रचलित हो पाये और समाज में चातुर्मास्य जैसे यज्ञों का फिर से प्रचलन सम्भव न हो सका। सूत्रकाल के पश्चात् समग्र भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ऐसा लगता है कि चातुर्मास्य यज्ञों का प्रचलन इस युग के अनन्तर शायद ही कभी और कहीं हुआ होगा। यदि ऐसा हुआ हो तो इसे अपवाद ही माना जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि प्रारम्भ से ही चातुर्मास्य यज्ञ का सम्पादन अनिवार्य रहा तथा पशुबन्धादि यज्ञों की परिपूर्णता के निमित्त भी यह अपरिहार्य रूप से सम्पाद्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी दीर्घकालिकता के कारण धीरे-धीरे इसकी उपेक्षा प्रारम्भ हो गयी थी। बौद्ध धर्म की उत्तरोत्तर लोकप्रियता भी इसका एक

महत्त्वपूर्ण कारण हो सकती है। कदाचित् इसे पुनर्प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से तथा सरलता से सम्पाद्य बनाने के निमित्त व्यवस्थाकारों ने इसके अनुष्ठान-अवधि को आश्चर्य जनकरूप से छोटा और सीमित कर दिया। यही कारण है कि विभिन्न व्यवस्थाकारों ने इसे १५ दिन, १२ दिन, ८ दिन, ५ दिन तथा २ दिन अथवा १ दिन में भी अनुष्ठेय मान लिया है।[२२]

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि चातुर्मास्य एक ऐसा यज्ञ है, जिसका अस्तित्त्व लिखित परम्परा से पूर्व अवस्था में भी था। मन्त्र संहिताओं से लेकर वेदाङ्ग साहित्य एवं परवर्ती वाङ्मय पर्यन्त इस याग की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इस याग का सफल अनुष्ठान यथा विहित प्रक्रियाओं के अनुसार आज भी किया जा सकता है। इस याग के सम्बन्ध में पूर्व विवेचनों का उद्देश्य इसकी प्राचीनता एवं मौलिकता को प्रस्तुत करना है। यह एक ऐसा याग है, जिसमें प्रकृति एवं विकृति दोनों भावों का समावेश है। यद्यपि यह याग दर्शपूर्ण मास का विकृत रूप भी है, तथापि इसका वैश्वदेव पर्व इसके अन्य पर्वों के लिए प्रकृति याग स्वरूप है। इस प्रकार चातुर्मास्य–चातुर्मास्य यज्ञ इष्टियों का प्रकृति याग तथा दर्शपूर्णमास का विकृति याग होते हुए भी स्वयं में प्रकृति याग एवं विकृति याग दोनों है। इससे इसकी मौलिकता एवं प्राचीनता सिद्ध होती है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. श०ब्र०, ६.१.१.१०, ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्।
२. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखित भूमिका, पृ० १५
३. वही, पृ० १५-१६
४. म०म०पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, द्वितीय संस्करण, १९७२, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४, पृ० ९२
५. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखित भूमिका, पृ० ११
६. ऋग्वेद, १०.९०.५-१०

७. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० ९२-९४

८. गीता ३.१०: सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्त्विष्टकामधुक।।

९. लाल शीतलाशरण सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास की पूर्व पीठिका (अप्रकाशित), पृ० ६८-७१

१०. मुण्डकोपनिषद्, १.२.१, तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो, यान्य पश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्या चरथ नियतं सत्यकामा एष व:पन्था: सुकृतस्य लोके।

११. मत्स्य०, १४३.१-४

१२. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० ८

१३. ऋ०सं०, ४.५७.५.८

१४. वही, ४.५७.४.८

१५. वा०सं०, १.६.१३, १.१४-३१, ३.१२.८, २१, २२, ३.४५, ३.४८, ७.१० तै०सं०, १.८.२, १.१.४, ४.१.११, ३.२.४४, ४.४.११, १.४.१४, २.६.१२, ३.२.५, ४.३.१३ एवं अन्य, मै०सं०, १.१०, १.९, ४.१०.३-१०, १३, ४.१.१२-१४, १.१.१६ एवं अन्य, का०सं०, ९.४.५, ३६.१, १-५, ३१.३-८, ८.९, ९.४, २१.१३ एवं अन्य, कपि०सं०, ८.७, ८.८ एवं अन्य

१६. वा०सं०, ३.४४.६३

१७. ऐ०ब्रा०, ८.११, ७.२१, १.१५, १.७, १.१.१५, १.६.१, १.१.२८, १.४.३, २.३.३, ४.३.४० एवं अन्य, कौषी०ब्रा०, ५.१.१७-१८, ५.६.७, ५.१-३, १.१६.२, १९ तथा अन्य, शांखा०ब्रा०, ५.१, ५.१-२ ५.१-३, ६.१०-१३, ३.२.३, ५.३-४ एवं अन्य।

१८. श०ब्रा०, २.५.१.१५, २.५.१.१६, २.५.१.१७, २.४.४.२२, २.५.१.२१, १.१.१, १.१.२-३, १.१.४, १.१.४.५, १.१.४-१२, १.२.२-३, २६-२७, १.२.४-५, १.३.१-२, २.५.१.१९, १.३.२.१३, १.३.५.१, ३.८.१.४, १.६.१-४, १.७.२.३,११.४.२.१६-२०, ११.१.२, १.७.२-३, १.६.२, ११.२.२, २.४.४.२२ एवं अन्य, का०श०ब्रा०, १.६.४, १.५.१, १.६.१, २.४, १.६.३-४, १३.५.२ एवं अन्य, तै०ब्रा०, १.६.२, १.४.९, १.६.२-३, ३.७.६, ३.२.४, ३.२.५, ३.२.८, ३.५.१-४, ३.५.२-१, ३.७.५, ३.५.७, १५.५.१, २, १.५.६, १.४.१०, १.६.४-५, १.७.१ एवं अन्य।

१९. ता०ब्रा०, १७.१३.१-१८ एवं अन्य, जै०ब्रा०, २.२९, १.३.२२, ११.२.१, १.३.५८, ४.१.७-१०, ४.२.१४-१५, १.४.१०-११, ८.२.१-९, २.२.२३, ११.२.१३, ११.२.३५-४३, ६.३.१२-१५, एवं अन्य, साम०ब्रा०, १.३.७-१०, १.

३.११ एवं अन्य।

२०. गो०ब्रा०, २.१.१९-२०, २.१.२१-२२, २.१.२३-२४, २.१.२६ एवं अन्य

२१. द्र०, द्विवेदी, डॉ० लालताप्रसाद, 'अगम', उपनिषदों में यज्ञ

२२. मान०श्रौ०, ८.१७.१०-२०, ८.१७.८-५, शां०ब्रा०, १४.१०.१९-२१, बौधा०श्रौ०, २५.१, आप०श्रौ०, ८.२२.१२-१३, सत्या०श्रौ०, ५.२०.१३

तृतीय अध्याय

वैश्वदेव पर्व

यह चातुर्मास्य यज्ञ का प्रथम पर्व है। सम्पूर्ण चातुर्मास्य के अनुष्ठान में इस पर्व का अतिशायी महत्त्व है। इसी वैश्वदेव यज्ञ के अनुष्ठान को सम्पन्न करके प्रजापति ने प्रजा का प्रादुर्भाव किया था।[1] वैश्वदेव पर्व अन्य पर्वों के लिए प्रकृति याग भी है। यह पर्व सभी देवताओं के द्वारा स्वयं देखा भी गया था।[2]

अनुष्ठान काल

किसी भी यज्ञानुष्ठान को सम्पन्न करने में ऋतु, मास, नक्षत्र एवं तिथियों का विधान होता है। उचित काल पर शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ किया गया यज्ञ श्रेयस्कर एवं फलदायी होता है। अतः यज्ञाचार्यों ने वैश्वदेव पर्व को सम्पादित करने के लिए ऋतु, मास, नक्षत्र तथा तिथियों का विधान प्रस्तावित किया है, जो ज्योतिष-शास्त्रों द्वारा भी विहित है। वैश्वदेव पर्व के अनुष्ठान हेतु सभी आचार्यों ने ऋतुओं में बसन्त ऋतु का ही चयन किया है।[3] इस पर्व के मास के सन्दर्भ में कतिपय आचार्यों ने फाल्गुन[4] तथा दूसरे आचार्यों ने फाल्गुन या उसके विकल्प में चैत्र मास का निर्धारण किया है।[5] वैश्वदेव पर्व के अनुष्ठान में नक्षत्रों का विधान याज्ञिक-ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता है। तिथियों के विषय में जहाँ पर अधिकतर विद्वानों ने फाल्गुन या चैत्र मास की पूर्णिमा का निश्चयन किया है वहीं आचार्य आश्वलायन ने फाल्गुन की पूर्णिमा के एक दिन पूर्व ही चातुर्मास्य के निमित्त वैश्वानर तथा पर्जन्य के लिए एक इष्टि करने का विधान प्रस्तुत किया है[6] तथा श्रौताचार्य कात्यायन ने यहीं पर विकल्प स्वरूप उस दिन व्यक्ति

को इस इष्टि को करने या अन्वारम्भणीया इष्टि करने को विहित किया है।[७]

पूर्णिमा के दिन प्रातः काल वैश्वदेव पर्व का अनुष्ठान किया जाता है तथा तदनन्तर पूर्णमास इष्टि की जाती है। कात्यायन (५.१) की टीकाकार के अनुसार वैश्वदेव इष्टि पूर्णिमा के दूसरे दिन प्रातःकाल अनुष्ठित होता है,[८] तभी फाल्गुन की पूर्णमास इष्टि की विधि उचित मानी जाती है। वैश्वदेव पर्व के अनुष्ठान काल के निर्धारण में कतिपय आचार्यों ने विकल्प स्वरूप दिवाकर के उत्तरायण होने पर आपूर्यमाण पक्ष की किसी भी पुण्य तिथि को अनुष्ठित करने का विधान भी प्रस्तुत किया है।[९] कात्यायनाचार्य के अनुसार यदि वैश्वदेवपर्व चैत्र्य की पूर्णिमा को अनुष्ठित किया जाता है तो वरुणप्रघास, साकमेध पर्व क्रम से श्रावण एवं मार्गशीर्ष की पूर्णिमाओं पर अनुष्ठित होते हैं।[१०]

देवता एवं द्रव्य

प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्येक यज्ञ का कोई न कोई प्रधान देवता होता है, जो यजमान की कांक्षा पूर्ति करने की सामर्थ्य रखता है। यथा विहित हवियों के अर्पण द्वारा देवताओं की प्रसन्नता अर्जित करना प्रत्येक यजमान का लक्ष्य होता है। देवताओं के निमित्त अर्पणीय द्रव्यों का विधान प्रत्येक यज्ञ के अन्तर्गत शाखा भेदादि कारणों से भिन्न-भिन्न अथवा एक समान प्राप्त होते हैं। चातुर्मास्य के इस प्रथम पर्व्व के देवता के विधान उक्त व्यवस्था के अनुरूप प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में श्रौताचार्यों में कहीं-कहीं मतैक्य है तो किसी बिन्दु विशेष में मतभेद। किन्तु प्राप्त सन्दर्भों के सम्यक् विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वैश्वदेव पर्व के कुल पाँच प्रमुख सञ्चर हैं, जिन्हें सामान्य हवियों के रूप में सभी पर्वों के अन्तर्गत अनुष्ठित किया जाता है।[११]

(क) सामान्य हवियाँ एवं उनके देवता

१. अग्नि देवता के लिए पुरोडाशों का विधान

इसमें सर्वप्रथम अग्नि देवताक पुरोडाशों के अर्पण का विधान है। अग्नि देवों में अग्रगण्य हैं। इसीलिए इन्हें सर्वप्रथम हवि का विधान करणीय है।[१२]

ध्यातव्य है कि अग्नि देवता के पुरोडाशों के विधान हेतु समग्र

याज्ञिक ग्रन्थों में हम देखते हैं कि संहिताओं से लेकर परवर्ती साहित्य में अग्नि देवताक अष्टाकपालक पुरोडाशों के अर्पण किये जाने का निर्देश है।[१३] अष्टाकपालक पुरोडाशों को अग्नि देवता के लिए अर्पित किये जाने की विशिष्टता यह है कि गायत्री छन्द के एक चरण में आठ अक्षर होते हैं, और गायत्री ही अग्नि का छन्द है।[१४] इसीलिए अग्नि को अष्टाकपालक पुरोडाशों का विधान विहित है। इस प्रकार इस पर्व के देवता एवं द्रव्य के विधानों में अग्नि देवता के लिए प्रथमत: अर्पणीय हवि अष्टाकपालक पुरोडाश हैं।

२. सोम देवता के लिए चरु का विधान

इस पर्व की द्वितीय हवि सोम नामक देवता के लिए विहित की गयी है। इसके द्रव्य के निश्चयन में सर्वत्र मतैक्य प्राप्त होता है। प्राप्त विधानों के अनुसार सोम देवता के लिए चरु अर्पण किये जाने का निर्देश है।[१५] ज्ञातव्य है कि इस द्रव्य का विधान अग्नि देवता के द्रव्यार्पण के अनन्तर ही करणीय है। पूर्वापरता की इस क्रमिक व्यवस्था को अक्षुण्ण रूप देने में यज्ञ पूर्ति सम्भव है।[१६]

३. सविता देवता के लिए पुरोडाशों का विधान

इस पर्व के अन्तर्गत तृतीय हवि सविता देवता के निमित्त पुरोडाश के रूप में अर्पित की जाती है। एतदर्थ पुरोडाशों की संख्या के सम्बन्ध में यज्ञाचार्यों में मतान्तर प्राप्त होता है। यज्ञाचार्यों का एक वर्ग सविता देवता के लिए द्वादश कपालक पुरोडाशों का विधान करते हैं[१७] तो अन्य वर्ग मात्र अष्टाकपालक पुरोडाशों को अर्पित करने का निर्देश करता है।[१८] इन विभिन्नताओं का निरसन संहिता में दृष्टिगत होता है, जिसके अनुसार वैश्वदेव पर्व में सविता के लिए द्वादशकपालक पुरोडाश तथा अन्य पर्वों में अष्टाकपालक पुरोडाशों का अर्पण करना चाहिए।[१९] किन्तु सत्याषाढ श्रौ०सू० की स्पष्ट घोषणा है कि सविता देवता के निमित्त अष्टाकपालक पुरोडाशों का विधान (कुछ लोगों के विचारों में) वैश्वदेव पर्व के इतर पर्वों में प्रदान करना चाहिए।[२०]

४. सरस्वती के लिए चरु का विधान

सविता के निमित्त द्रव्य विधानों के अनन्तर सरस्वती देवी के लिए

हविर्विधान विहित है। इसके अन्तर्गत सरस्वती देवी के निमित्त चरुओं का अर्पण किया जाता है।[२१] सरस्वती के लिए चरुओं के विधान को स्पष्ट करते हुए ब्राह्मणकार ने जनन हेतु मिथुन निर्माण की उपयोगिता को प्रदर्शित किया है।[२२] एतदर्थ सरस्वती देवी को उक्त प्रयोजनार्थ अनिवार्यत: द्रव्य-विधान करणीय है।

५. पूषा देवता के लिए चरु का विधान

इस पर्व की पञ्चम हवि चरु के रूप में पूषा देवता के निमित्त अर्पित की जाती है। स्मरणीय है कि पूषा देवता को प्रदेय हवियाँ पिष्टान्नों से निर्मित होना चाहिए। इसीलिए कतिपय श्रौताचार्यों ने उक्त व्यवस्थानुरूप चरुओं का प्रयोग करने का निर्देश किया है।[२३] इतना ही नहीं अपितु पूषा के निमित्त विशेष अन्न यथा-धान के तण्डुलों को अधिक पीसकर प्रयोग करने का भी निर्देश प्राप्त होता है। मानव श्रौतसूत्र ने तो पूषा के निमित्त प्रदेय हवियों में प्रयुक्त किये जाने वाले चरुओं को सभी अनुष्ठानों में पिसे आटे के रूप में ही उपयोग किये जाने का विधान दिया है।[२४]

पूर्व विवेचित पाँचों सामान्य हवियों के अतिरिक्त वैश्वदेव पर्व के अन्तर्गत तीन विशिष्ट हवियों का विधान करणीय है।

(ख) विशिष्ट हवियाँ एवं उनके देवता

वैश्वदेव पर्व के अन्तर्गत इन पञ्च प्रधान देवों के अतिरिक्त अन्य तीन सामान्य सञ्चर भी हैं, जिनके निमित्त प्रयुक्तव्य हवियों का विधान अग्रलिखित है–

१. मरुत देवता के लिए पुरोडाशों का विधान

यह वैश्वदेव पर्व की षष्ठ हवि है, जो पुरोडोशों के रूप में मरुत् देवता के लिए प्रदेय है। एतदर्थ प्राप्त विधानों में मरुत् देवता के निमित्त सप्तकपालक पुरोडाश अर्पण किया जाता है।[२५] ज्ञातव्य है कि प्रजापति ने अपनी प्रजा की सुरक्षा हेतु मरुतों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें सप्तकपालक पुरोडाश पृथक्-पृथक् अर्पण किये। मरुत देवता के लिए सप्तकपालक पुरोडाश का विधान इसलिए है कि मरुतों के सात-सात के समूह हैं।[२६]

२. विश्वदेव के लिए आमिक्षा का विधान

वैश्वदेव पर्व की सप्तम हवि विश्वदेव के निमित्त अर्पण की जाती है। विश्वदेव के निमित्त प्रदेय हवियों के सम्बन्ध में याज्ञिक ग्रन्थों में दो मत प्राप्त होते हैं। यज्ञाचार्यों का एक वर्ग विश्वदेव के लिए आमिक्षा का विधान करता है[२७] तथा अपर मत विश्वदेव के लिए पयस्या अर्पण करने का निर्देश देता है।[२८] ब्राह्मणकार के अनुसार स्पष्ट है कि पयस्या और मट्ठा के मिथुन क्रम से अनन्त विश्व का प्रादुर्भाव हुआ और क्योंकि विश्वदेव उत्पन्न हुआ, इसीलिए इसे वैश्वदेवी का अभिधान प्राप्त है।[२९]

३. द्यावापृथिवी के लिए पुरोडाश का विधान

इस पर्व में अष्टम हवि के रूप में द्यावापृथिवी के निमित्त एक कपालक पुरोडाश अर्पण किया जाता है।[३०] ब्राह्मणकार के अनुसार स्पष्ट है कि प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न करके द्यावा और पृथिवी के मध्य में स्थापित कर दिया। इसीलिए द्यावा पृथिवी के निमित्त एक कपालक पुरोडाश के अर्पण का विधान है।[३१] इस प्रकार से इस पर्व में कुल आठ हवियों के अर्पण का विधान प्राप्त होता है।

प्रारम्भिक दिन के कृत्य

यज्ञ की पूर्ण सफलता उसके लिए विहित उपयुक्त ऋतु, मास, नक्षत्रादि एवं समुचित प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है। वैश्वदेव पर्व का शुभारम्भ कब किस तिथि को किस प्रकार किया जाय? उसमें यजमान के ऋत्विजों द्वारा किन-किन तथ्यों पर विशेष ध्यान देते हुए प्रथम दिन के कृत्य को सम्पन्न करना चाहिए? इस सन्दर्भ में आचार्यों का विचार द्रष्टव्य है–वैश्वदेव पर्व के प्रथम दिन चतुर्दशी को यजमान और उसकी पत्नी नये वस्त्र धारण करते हैं। तदनन्तर ऐसे स्थल पर जो कि पूर्व की ओर ढालू होता है[३२], पूर्वाभिमुखी हो शुद्धासन पर आसीन होते हैं। यह आसन पिञ्जलों से निर्मित्त होता है, जिन्हें अलग-अलग कुशों की रस्सी से बाँधा जाता है। पुनः इन्हें एक बड़ी रस्सी से बाँधकर उनके मध्य में फूलते हुए कुश का एक गट्ठर रख दिया जाता है। इसी पर बैठा हुआ सपत्नीक यजमान पञ्चहोतृ मन्त्र से आहवनीय अग्नि में एक आहुति अर्पित करता है।[३३]

तत्पश्चात् इसी दिन आरम्भणीयेष्टि का अनुष्ठान किया जाता है, जिसके अन्तर्गत वैश्वानर अग्नि को बारह कपालों वाला एक पुरोडाश तथा पर्जन्य देवता को चरु प्रदान किया जाता है।[३४] आचार्यों ने इस इष्टि के स्थान पर आरम्भणीयेष्टि के अनुष्ठान को विकल्परूप में प्रस्तुत किया है।[३५] वैश्वानर एवं पर्जन्य देवता के निमित्त इस आरम्भिक इष्टि के अनुष्ठान काल में हिरण्य और धेनु को दक्षिणा में दिये जाने का विधान है।[३६] इस यज्ञ में पशुबन्ध यज्ञ के सदृश्य अग्नि प्रणयन, वत्सापाकरण तथा वाजिन् याग एवं नौ प्रयाज और नौ अनुयाज याग होते हैं।[३७] सविता के निमित्त अनुवाक्या एवं याज्या ऋचाएँ उच्चारणीय हैं।[३८]

अनुयाजों या सूक्तवाक् अथवा शंयुवाक् के पश्चात् वाजिन् नामक देवों के निमित्त वाजिन् की आहुति दी जाती है।[३९] वाजिन् का अवशेषांश एक पात्र में उसी प्रकार लाया जाता है, जिस प्रकार कि इडा का अर्थात् अध्वर्यु द्वारा होता के जुड़े हाथों में रखा जाता है। होता उसे बायें हाथ रखकर दाहिने हाथ में अध्वर्यु द्वारा प्रक्षिप्त घृत धारण करता है। तत्पश्चात् वाजिन् के दो अवदान रखे जाते हैं और पुनः उन पर कुछ घृत छिड़का जाता है। पात्र को अध्वर्यु द्वारा मुख या नासिका तक उठाया जाता है। होता अन्य ऋत्विजों से वाजिन् भक्षण के लिए निवेदन करता है। होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं आग्नीध्र मात्र सूँघकर वाजिन् को अपना लेते हैं, किन्तु यजमान वाजिन् को खाता है।[४०] कात्यायन के अनुसार अध्वर्यु समष्टि-यजुष् नामक वात, यज्ञ और यज्ञपति के लिए तीन आहुतियाँ देता है।[४१] ब्राह्मणकार के अनुसार इस कृत्य हेतु सम्बन्धित ऋतु में प्रथमज गौ की दक्षिणा का निर्देश है।[४२] इस पर्व के शेष अन्य कृत्य यथा गार्हपत्याग्नि से अग्नि का प्रणयन और उसका प्रतिष्ठापन निरूढ़ पशुबन्ध की विधि से करने का विधान है।[४३] अग्नि अन्वाधान के पश्चात् अध्वर्यु वत्सों का अपाकरण करता है । तदनन्तर प्रसूमय बर्हि और इध्म का आहरण करने का विधान है ।[४४] सायं अग्निहोत्र के पश्चात् सान्नाय्य हवि हेतु सायंदोह क्रिया का अध्वर्यु द्वारा करने का निर्देश समग्र याज्ञिक ग्रन्थों में विहित है।

यजनीय दिन के कृत्य

प्रारम्भिक दिन के अनन्तर दूसरा दिन यजनीय दिन कहलाता है।

यही दिन याग का मुख्य दिवस है। इसमें प्रातः कालिक अग्निहोत्र के अनन्तर पाणि-प्रक्षालनादि कर्म प्रकृतिवत[४५] सम्पन्न करके वैश्वदेव पर्व प्रारम्भ किया जाता है। इसमें सर्वप्रथम वेदि में समस्त पात्रों का आसादन किया जाता है।[४६] तदनन्तर अध्वर्यु द्वारा पाणि-प्रक्षालन करके मन्त्र पाठ के साथ गार्हपत्य से आहवनीय पर्यन्त एक सतत रेखा के रूप में कुशों का स्तरण किया जाता है और उस रेखा के दक्षिण एवं उत्तर में मौन रहते हुए अध्वर्यु द्वारा पुनः कुशस्तरण का कार्य सम्पन्न किया जाता है।[४७] आहवनीय के दक्षिण में यजमान और ब्रह्मा के लिए कुशों के दो आसन रखे जाते हैं। ब्रह्मा का आसन पूर्व दिशा में तथा यजमान का आसन उसके पश्चिम में होता है।

ब्रह्मा और यजमान के आसन-व्यवस्था के अनन्तर गार्हपत्य के उत्तर की ओर दर्भों का संस्तरण करके उन पर यज्ञिय पात्रों[४८] स्फ्य एवं कपालादि को युग्मों में अधोमुख करके रख दिया जाता है। इसके अतिरिक्त आज्यस्थाली, अन्वाहर्यस्थाली, एक प्रस्तर, सान्नाय्य पात्र, कुम्भी, शाखा, पवित्र, उपवेष, अभिधानी, दो निदान एवं दोहन तथा पूर्व निर्मित दो पवित्र, आठ-काष्ठ पात्र एवं अन्य उपयोगी अनेक पात्रों के साथ उपकरणों को भी स्थापित किया जाता है।[४९] स्मर्तव्य है कि होम में प्रयुक्त होने वाले पात्र वारण काष्ठ से निर्मित होते हैं।

पात्रासादन के अनन्तर यजमान एक ब्रह्मिष्ठ ब्राह्मण का ब्रह्मा के रूप में वरण करता है।[५०] ब्रह्मावरण के पश्चात् अध्वर्यु आहवनीय अग्नि के पश्चिमी भाग के होते हुए दक्षिण की ओर आकर उत्तराभिमुख बैठ जाता है। पाणि-पाद-प्रक्षालन एवं आचमन के अनन्तर ब्रह्मा भी आहवनीय के पश्चिम से वेदी को पार करता हुआ दक्षिण की ओर मन्त्र पढ़ते हुए ब्रह्म-सदन का उपस्थान करता है। तदनन्तर वह मन्त्र पाठ के साथ ही ब्रह्म-सदन से एक तृण को लेकर उसे दूर फेंक देता है। पुनः अपने आसन पर बैठकर समन्त्रक द्यावापृथिवी की ओर देखता है तथा दो मन्त्रों का जप करता है। ज्ञातव्य है कि ब्रह्मा को समन्त्रक अनुष्ठानों के समय मौन रहने का विधान किया गया है। इसका उल्लंघन करने पर उसे विष्णु देवताक ऋचा और व्याहृतियों का जप करके पुनः वाक्-नियमन करना होता है। सान्नाय्य याग करने वाले यजमान के लिए अध्वर्यु इस समय दर्भ के दो पवित्रों का निर्माण

करता है।[५१] इसके अनन्ध्तर प्रणीता-प्रणयन का विधान दिया जाता है। प्रणीता जल का उपयोग पुरोडाश बनाने में किया जाता है।[५२] सबसे पहले प्रणीता-प्रणयन के निमित्त चमस को जल से तीन बार प्रक्षालित किया जाता है। ध्यातव्य है कि पशु कामी यजमान के लिए गो-दोहन पात्र से अन्नाद्यकामी यजमान के लिए मृण्मय पात्र से तथा ब्रह्मवर्चसकामी यजमान के लिए कांस्य-पात्र में प्रणीता प्रणयन करने के लिए पृथक् रूप में व्यवस्था दी जाती है।[५३]

अध्वर्यु गार्हपत्य के पश्चिम में बैठकर चमस को समन्त्रक पृथिवी का ध्यान करते हुए जल से अभिपूरित तथा प्रकृतियागवत् उत्पवन की विधि से उस जल को पवित्र एवं अभिमन्त्रित करता है।[५४] तदनन्तर वह प्रणीता प्रणयन हेतु ब्रह्म की अनुज्ञा प्राप्त करता है। प्रणीता प्रणयन से हविष्कृत आह्वान तक अध्वर्यु और यजमान दोनों को मौन रहना पड़ता है। अध्वर्यु मन्त्र पाठ के साथ स्फ्य सहित प्रणीता को नासिका की ऊँचाई तक ग्रहण किये आहवनीय अग्नि की ओर से होता हुआ उपस्थान करता है। इस क्रिया में अध्वर्यु को यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि प्रणयन के समय जल नीचे न गिरने पाये। इस समय यजमान सजल प्रणीता पात्र का अनुमन्त्रण करता है। अध्वर्यु आहवनीय के उत्तर की ओर प्रणीता पात्र को दर्भों पर रखकर उसे दर्भों से ही ढक देता है।[५५] तदनन्तर उन दोनों पवित्रों को हाथ में लेकर समन्त्रक पात्रों को स्पर्श करता है।

हविर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण

प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि देवताओं के निमित्त अग्नि में प्रक्षिप्त यज्ञ के साधनभूत द्रव्य को हवि कहते हैं।[५६] देवताओं के निमित्त अर्पणीय हवियों का पृथक्करण निर्वाप है।[५७] अन्न निर्वपन सम्बन्धी कार्य प्रणीता प्रणयन के बाद अध्वर्यु द्वारा हवि निर्माणार्थ किया जाता है।[५८] अध्वर्यु मन्त्र पढ़ते हुए अपने दाहिने हाथ में अग्निहोत्र हवणी एवं बायें हाथ में शूर्प लेकर उसे गार्हपत्याग्नि पर तपाता है तथा यजमान की आज्ञा से वह हविर्निर्वाप के लिए प्रस्थान करता है। अध्वर्यु गार्हपत्याग्नि के पश्चिम में पूर्वाग्र या उत्तराग्रस्थित एक शकट के पार्श्व में पहुँचता है जहाँ शकट पर चटाइयों से ढका ब्रीहि रहता है। अध्वर्यु समन्त्रक शकट के दायें एवं बायें धुरे को स्पर्श

करता हुआ उसे अभिमन्त्रित करके विष्णु का ध्यान करता है। तदनन्तर वह बायें पहिये पर अपना दाहिना पैर रखकर शकट पर चढ़ता है। तत्पश्चात् मन्त्र पाठ के साथ परीणाह को देख करके उसके द्वार को खोलता है तथा पुरोडाशीय अन्न का सप्रोक्षण स्पर्श कर तृण या किंशारू का अपाकरण करता है। अब वह जल का उपस्पर्श करके हविर्निर्वाप करते हुए दशहोतृ नामक मन्त्र का ''ओं चिति: सुकचित्तमाज्यम्०''[५९] से प्रारम्भ करता हुआ पाठ करता है तथा अध्वर्यु हविर्निर्वाप करते हुए पवित्र शूर्प में अग्नि होत्र हवणी को रखकर मुट्ठी भर अन्न शूर्प में डाल देता है एवं देवताओं की संख्या के अनुसार चार मुट्ठी अन्न का निर्वपन करता है,[६०] जिनमें अन्तिम निर्वपन क्रिया निर्मन्त्रक ही की जाती है। अध्वर्यु इन निरुप्त अन्नों में ऋत्विजों के भक्षणार्थ कुछ और अन्न मिला देता है तथा वह द्वितीय पुरोडाश हेतु भी अन्न का निर्वपन उसी प्रकार करता है। यजमान निरुप्यमाण अन्नों का अभिमन्त्रण करके पावन अग्नियों के विहार का समन्त्रक अवलोकन करता है। ध्यातव्य है कि शकट के अभाव में गार्हपत्य के पीछे स्फ्य के ऊपर स्थित पात्री से पुरोडाशीय अन्नों का निर्वपन करना उपयुक्त होता है और उस पात्री के पूर्वार्द्ध को मन्त्र पाठ के साथ स्पर्श करते हुए सम्पूर्ण शकट सम्बन्धी मन्त्रों का पाठ करने का विधान है।[६१] अध्वर्यु मन्त्र पाठ करते हुए सर्वप्रथम निरुप्त अन्नों का तदनन्तर शकट या पात्री में अवशिष्ट अन्नों का स्पर्श करता है। मन्त्र पढ़ते हुए सम्यक् यज्ञ, पवित्र अग्नियों के विहार तथा आहवनीय अग्नि की तरफ देखकर शकट से अवरोहण करता है। शूर्प से बाहर गिरे अन्नों को अभिमन्त्रित करने के पश्चात् उसे पुरोडाशीय अन्नों को ग्रहण करने तथा गार्हपत्य के पश्चिम या उत्तर की ओर देवताओं को निर्दिष्ट कर शूर्प को रख देने का विधान है।[६२] तदनन्तर निरूप्त पुरोडाशीय अन्नों का जल से प्रोक्षण किया जाता है।[६३] पवित्र युक्त हवणी में प्रोक्षणी जल ग्रहण करके उसे संस्कृत एवं उत्पवनित करता है। इसके अनन्तर अध्वर्यु हवि प्रोक्षण के निमित्त ब्रह्मा की आज्ञा लेकर मन्त्र पाठ करते हुए प्रत्येक देवता के लिए हवि का तीन बार प्रोक्षण करता है। तदनन्तर पात्रों का प्रोक्षण कर पुरोडाशीय अन्नों का अवहनन करता है।[६४]

अध्वर्यु कृष्णाजिन् के ग्रीवा वाले भाग को बाहर की ओर करके मन्त्र पढ़ते हुए उत्कर पर तीन बार झटकता है।[65] फिर ग्रीवा वाले भाग को पश्चिम की ओर तथा केश वाले भाग को ऊपर की ओर करके कृष्णाजिन् को पूर्व की ओर बिछा देता है।[66] तदनन्तर वह कृष्णाजिन् को स्पर्श किये हुए उस पर उलूखल स्थापित करता है तथा उलूखल को स्पर्श किये हुए उसमें चार बार में हवि अन्न का आवपन करता है। तीन बार हवि का आवपन मन्त्र के साथ तथा चतुर्थ बार निर्मन्त्रक ही किया जाता है। अध्वर्यु मुसल लेकर हवि की तीन बार कुटाई करता है तथा प्रत्येक बार हविष्कृत का आह्वान करता है। ''हविष्कृदेहि'', ''हविष्कृदागाहि'', ''हविष्कृदाद्रव'' तथा ''हविष्कृदाधाव'' रूप से क्रमशः ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य तथा रथकार का यजमान के यज्ञ में हविष्कृत आह्वान का विधान है।[67] हविष्कृत् आह्वान के अनन्तर यजमान सामान्य वाणी का प्रयोग करता है तथा यज्ञ योग मन्त्र–''कस्त्वायुनक्ति...।''[68] से यज्ञ को युक्त करता है। तण्डुलों के तैयार होते ही अध्वर्यु ''उच्चैः समाहन्तवै'' इस प्रकार आग्नीध्र को प्रैष देता है। आग्नीध्र वृषारव प्रस्तर खण्ड अथवा शम्या लेकर मन्त्र पाठ करते हुए दो बार दृषद् का तथा एक बार उपला का समाहन (तेजी से प्रहार) करता है। इस प्रकार कुल मिलाकर तीन बार में आग्नीध्र सिल-लोढे को नौ बार पीटता है। इस पर्व में पुरोडाशीय अन्नों की विधिवत् कुटाई करके तुषापनयन किया जाता है। इसके लिए अध्वुर्य उलूखल स्थित पुरोडाशीय अन्न को शूर्प में लेकर उत्कर की तरफ जाता है तथा भूसी से अलग किये गये उन अन्नों को एक कपाल में भर लेता है। पुनः उस कपाल की भूसी को कृष्णाजिन् के नीचे उत्तर पश्चिम में रखकर हाथ से दबा देता है।[69] इस भूसी को देखने का प्रतिबन्ध है। अब अध्वर्यु आचमन कर प्रक्षालित कपाल को यथा स्थान रख देता है तथा तण्डुलों को पात्री में डालकर उनका अवेक्षण करता है। तर्हि नह विविक्त तण्डुलों को हविष्कृत[70] को देते हुए फलीकरण[71] के लिए प्रैष देता है। हवष्किृत तीन मन्त्रों के साथ तीन बार फलीकरण करता है।[72] फलीकृत तण्डुलों को उपयुक्त जल से प्रक्षालित कर उस जल को तीन बार वेदि में गिराया जाता है। ध्यातव्य है कि यह क्रिया अध्वर्यु ही करता है।

उपर्युक्त कृत्य को सम्पन्न करके यज्ञ के साधनभूत द्रव्य हवि के लिए तैयार किये गये चावलों को पीसा जाता है, जिसे हवि पेषण क्रिया कहते हैं। कृष्णमृग-चर्म से सम्बन्धित विधियों को पूर्ववत् सम्पन्न करने के पश्चात् अध्वर्यु उस कृष्णाजिन् पर शम्या को (कुम्ब को उत्तराग्र करके) फिर शम्या के ऊपर (पूर्वाग्र) दृषद् को तथा दृषद् के ऊपर उपला को स्थापित करता है। तत्पश्चात् आग्नीध्र चावलों का भलीभाँति अवेक्षण कर उन्हें पेषण के निमित्त सिल पर चार बार में (तीन बार मन्त्र के साथ और एक बार निर्मन्त्रक) स्थापित करता है।[७३] ज्ञातव्य है कि चावलों को आरम्भ में लोढे से सिल पर पीसने की एक निश्चित प्रक्रिया होती है। सर्वप्रथम लोढे को सिल पर आगे की ओर तदनन्तर क्रमशः पीछे की ओर बीच में तथा पूर्व की ओर संचालित करने की क्रिया सम्पादित कराना यज्ञाचार्यों का अभीष्ट रहा है।[७४]

अब याज्ञिक अपनी सुविधा अनुसार उसका पेषण करते हैं, पिष्ट हवि को कृष्णाजिन् पर गिराते जाते हैं और प्रस्कन्न पिसी हवि को देखता हुआ अध्वर्यु हवि पीसने वाली स्त्री को प्रैष देते हुए कहता है कि-''पिसान को और अधिक महीन बनाओ।'' तब वह स्त्री पिसाई करती है।[७५] मदन्ती जल को इस समय गार्हपत्य अग्नि पर गरम होने के लिए रखने का भी विधान विहित है,[७६] क्योंकि हवि इसी अग्नि पर पकायी जाती है।

इसके बाद यज्ञाचार्यों द्वारा कपालोपधान का विधान विहित है।[७७] एतदर्थ कपालों का प्रयोग पुरोडाश बनाने में किया जाता है। ये कपाल एक निश्चित क्रम में स्थापित किये जाते हैं। क्रम से कपालों को स्थापित करने की यह क्रिया ही कपालोपधान क्रिया कही जाती है। कपालों को आग में तपाने के बाद ही उन पर पुरोणाशों को विस्तारित करके पकाया जाता है। एतदर्थ अध्वर्यु अभिमन्त्रित उपवेष द्वारा गार्हपत्य अग्नि के पश्चिम की ओर से दो अङ्गारों को निकालकर उनमें से (निषिद्ध अग्नि के प्रतीक रूप में) दक्षिण वाले अङ्गार को दैवयत् नामक अग्नि के प्रतीक रूपमें स्थापित कर उसके ऊपर एक कपाल को आहित करता है।[७८] इस कपाल के ऊपर मन्त्र पाठ के साथ एक अङ्गार रख दिया

जाता है। इस आहित मध्यम कपाल के पूर्व में दूसरे तथा उसके पूर्व में तीसरे कपाल को स्थापित किया जाता है। पूर्व के मध्यम कपाल के दक्षिण में दो तथा उत्तर में तीन कपालों को स्थापित किया जाता है।[७९] अष्टाकपालक पुरोडाश में आधान का यही क्रम विहित है। एकादश कपालक पुरोडाश में अष्टाकपालक के अनुरूप कपालों को रखकर उत्तर में आहित कपालों के उत्तर में तीन और कपालों को भी स्थापित किया जाता है। अध्वर्यु गार्हपत्य के अङ्गारों को ग्रहण करके उन्हें वेद द्वारा कपालों पर फैला देता है। इस क्रिया को अध्यूहन कहा जाता है। इसके बाद वैश्वदेव पर्व के सम्पादन में पुरोडाश श्रपण का विधान है।[८०] पुरोडाश श्रपण के निमित्त तपाकर ठण्डी की गयी पवित्रयुक्त पात्री में अध्वर्यु कृष्णाजिन् के पिसान का चार बार, जिसमें तीन बार मन्त्र के साथ तथा चतुर्थ बार निर्मन्त्रक संवपन करता है।[८१]

अब अध्वर्यु समन्त्रक पिसान का उत्पवन करके उसमें स्रुवा द्वारा थोड़ा-सा प्रणीता जल लेकर मिलाता है। पुनः मदन्ती जल का निनयन कर प्रदक्षिण क्रम से परिप्लावित करते हुए पिसान को अच्छी तरह सानता है।[८२] पिसान को गूँथकर लोई बनाने के बाद अध्वर्यु उसे दो समान पिण्डों में विभक्त करता है तथा इन पिण्डों को तत्तद् देवताओं के निमित्त निर्दिष्ट करते हुए उनका स्पर्श करता है। तत्पश्चात् वह वेद द्वारा कपालों पर निहित अङ्गारों को हटाकर दक्षिण पिण्ड को दक्षिण कपाल योग पर रख देता है।

ज्ञातव्य है कि लोई को कपालों पर विस्तारित करते हुए कूर्म की प्रतिकृति बना देनी चाहिए।[८३] अब अध्वर्यु को पात्री में जल लेकर (उस जल को अपने हाथ में लगाकर) प्रत्येक पिण्ड पर दाहिनी ओर लेप करते हुए अनुपरिमार्जन करता है तथा फिर पुरोडाश के समीप दधि रखकर एक उल्मुक को सभी हवियों के चारों ओर तीन बार घुमाता है। उल्मुक द्वारा सम्पद्यमान इस प्रक्रिया को पर्यग्निकरण कहते हैं। अध्वर्यु मन्त्र पाठ करते हुए प्रज्ज्वलित दर्भों द्वारा पुरोडाशों को पकाता है, फिर गार्हपत्य अग्नि को अभिमन्त्रित कर वेद द्वारा भस्म सहित अङ्गारों से उन पुरोडाशों को आच्छादित करता है। इसके बाद वह उल्मुक द्वारा अभितप्त किये गये अँगुलि प्रक्षालन और पात्री

को वेदि के भीतर स्फ्य द्वारा दक्षिण से उत्तर की ओर खींची गयी तीन रेखाओं पर मन्त्र पाठ के साथ छोड़ता है।[८४] इस प्रक्रिया का अगला कृत्य वेदिकरण है।[८५] एतदर्थ आहवनीय के पश्चिम में यजमान के बराबर अथवा आवश्यकतानुसार लम्बी-चौड़ी एक वेदि का निर्माण किया जाता है। एतदर्थ सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र के अनुसार वेदि की लम्बाई चार अरत्नि अथवा ९६ अँगुल होनी चाहिए[८६] तथा कात्यायनाचार्य के मत से वेदि को पश्चिम की ओर चार अरत्नि, पूर्व की ओर तीन अरत्नि गहराई में तीन अँगुल पूर्व या उत्तर की ओर ढालू एवं मध्य में पतली बनाना चाहिए।[८७] प्रारम्भ में यजमान द्वारा मन्त्र पाठ करके वेदि स्थल का स्पर्श किया जाता है।[८८] तत्पश्चात् अध्वर्यु (स्तम्बयजुर्हरण के पूर्व) उसे वेद द्वारा तीन बार सम्मार्जित करता है।[८९] वेदि पर की मिट्टी को एक नियत व्यवस्था के अनुसार उठाकर उत्कर में डालने को स्पतम्बयजुर्हरण कहते हैं।[९०] वेदि के पूर्व वाले तृतीय भाग में एक कुश रखकर 'यजुः' पाठ के साथ स्फ्य से प्रहार करने के फलस्वरूप जो मिट्टी निकलती है, उसे उत्कर[९१] में डालने के निमित्त ले जाये जाने के कारण इस कार्य की संज्ञा स्तम्बयजुर्हरण है।[९२] यह क्रिया तीन बार मन्त्र के साथ और चतुर्थ बार निर्मन्त्रक ही सम्पन्न की जाती है। इसके बाद यजमान स्तम्बयजुर्हरण कर्म का अभिमन्त्रण करता है तथा अध्वर्यु वेदि तथा यजमान का निरीक्षण करता है।

अब पूर्व परिग्राह एवं उत्तर परिग्राह का विधान करणीय है।[९३] वेदि के दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर की ओर सीमा निर्धारण के लिए क्रमशः तीन रेखायें खींची जाती हैं, इसी कर्म का अभिधान परिग्राह है। परिग्राह दो बार किया जाता है, जिनमें प्रथम को पूर्वपरिग्राह तथा अनुवर्ती को उत्तर परिग्राह की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। रेखाओं की संरचना एक निश्चित रीति के अनुसार की जाती है। दक्षिणी और उत्तरी रेखा पश्चिम से पूर्व की ओर तथा पश्चिमी रेखा दक्षिण से उत्तर की ओर विनिर्मित की जाती है। रेखा-संरचना के समय यज्ञ-कर्त्ता विभिन्न मन्त्रों से उन्हें अनुमन्त्रित करता है। पूर्व परिग्राह के अनन्तर अध्वर्यु वेदि का संस्कार करता है। उसे वेदि स्थल के पूर्वी भाग में आहवनीय आयतन के दोनों पार्श्वों, जिन्हें वेदि का अंश कहते हैं,

एवं पश्चिमी भाग में गार्हपत्यायतन के दोनों पार्श्वों, जिन्हें वेदि की श्रोणि कहते हैं, को उन्नत बना दिया जाता है। ध्यातव्य है कि आचार्यों ने वेदि को बीच में पतली बनाने का निर्देश किया है।[९४]

इसके बाद अध्वर्यु स्फ्य द्वारा वेदि के ऊपरी भाग को खोदता है। वेदि की गहराई दो अँगुल, चार अँगुल, रथचक्र की लीक के बराबर अथवा एक प्रादेश मात्र होती है। इससे अधिक गहरी वेदि का निर्माण पितृकार्यों में ही होता है। उसे दक्षिण की ओर ऊँची तथा मिट्टी से भरी हुई एवं पूर्व या उत्तर अथवा पूर्वोत्तर की ओर ढालू बनाया जाता है। स्फ्य द्वारा वेदि में स्थित औषधियों की जड़ों को काट दिया जाता है। इस सन्दर्भ में स्मर्तव्य है कि नख द्वारा काटने के लिए निषेध प्रस्तुत किया गया है। वेदि की अतिरिक्त यज्ञस्थलीय अनावश्यक मिट्टी उत्कर में फेंक दी जाती है। यदि यजमान पशुकामी हो तो वेदि निर्माण में बाहर से लायी गयी मिट्टी का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद यजमान वेदि का अनुमन्त्रण करता है तथा अध्वर्यु ब्रह्मा की अनुज्ञा प्राप्त कर पूर्व-परिग्राह की भाँति उत्तर परिग्राह का विधि विधान-करता है।[९५] तत्पश्चात् स्फ्य द्वारा वेदि को पूर्व से पश्चिम की ओर समतल बनाता है। इस समय यजमान वेदि का अभिमन्त्रण करता है।

इसके पश्चात् प्रोक्षणी तथा इध्म एवं बर्हि के उपासादन का विधान है। अध्वर्यु वेदि को अभिमन्त्रित कर स्फ्य को वेदि के पश्चिमार्द्ध भाग में उस स्थल पर तिरछा खड़ा करता है, जो कि वेदि की-पश्चिमी सीमा से पूर्व की ओर वेदि की लम्बाई के तृतीय भाग को छोड़ने पर शेष बचा रहता है। अब वह प्रोक्षणी आसादन के लिए स्फ्य को थोड़ा उत्तर की ओर घसीटते हुए अपाकृत करता है। तद् द्वारा खींची हुई रेखा पर जल गिराकर अग्निहोत्र हवणी को पूर्व आहित स्फ्य स्थल पर रख देता है। स्फ्य को उत्कर में फेंकने का विधान विहित है।[९६] स्फ्य को फेंकने के पहले तथा बाद में अध्वर्यु को यज्ञकर्त्ता के शत्रुओं का ध्यान करना होता है। यजमान आसाद्यमान प्रोक्षणी का अनुमन्त्रण करता है। बाद में आग्नीध्र स्फ्य को उत्कर से पूर्व की ओर निकालकर अपने हाथ एवं स्फ्य को जल से प्रक्षालित करता है। स्मर्तव्य है कि प्रक्षालन करने में स्फ्य के अग्रभाग का स्पर्श नहीं होना

चाहिए। स्फ्य को प्रणीता जल के पश्चिम में स्थापित किया जाता है।[९७] तदनन्तर आग्नीध्र प्रणीता जल के उत्तर की ओर इध्म की और उसके उत्तर बर्हि की स्थापना करता है।[९८] इसके बाद स्रुच सम्मार्जन, पत्नी सन्नहन तथा आज्यग्रहण का विधान है।[९९] यज्ञाचार्यों ने यज्ञ में प्रयुक्त होने के पूर्व स्रुव, स्रुच तथा प्राशित्र हरण का सम्मार्जन करने का विधान किया है। सबसे पहले आग्नीध्र या अध्वर्यु वेदांगों, वेदपरिवासनों द्वारा स्रुव तथा स्रुच का एक साथ सम्मार्जन कर अध्वर्यु उन्हें अभिमन्त्रित करता है। उसके बाद अपने दाहिने हाथ में स्रुव, जुहू और उपभृत को तथा बायें हाथ में ध्रुवा प्राशित्र हरण एवं वेदाग्रों को मन्त्र के साथ गार्हपत्याग्नि पर तपाता है। इसके बाद वेदाग्र द्वारा पुनः जुहू, उपभृत और ध्रुवा को समन्त्रक तथा प्राशित्र हरण निर्मन्त्रक सम्मार्जन आन्तरिक भागों और बाह्य भागों तथा हत्थे का सम्मार्जन मूल भाग से किया जाता है।[१००]

पूर्ववत् स्रुचों तथा प्राशित्रहरण पात्र[१०१] को अग्नि पर तपाकर उत्तर की वेदि श्रोणि पर रख दिया जाता है।[१०२]

सत्याषाढ श्रौतसूत्र के अनुसार स्रुचों और प्राशित्र हरण को वेदि के उत्तर की ओर उत्कर के सामने या पश्चिम की ओर दर्भों पर रखने का विधान है।[१०३] अब सम्मार्जन में प्रयुक्त वेद परिचासन को जल से प्रोक्षित कर अग्नि में फेंक देने का निर्देश है।[१०४] तत्पश्चात् पत्नी सन्नहन किया जाता है। विशिष्ट रीति से मूँज की बनी हुई रस्सी से यजमान की पत्नी को सन्निविष्ट करना पत्नी सन्नहन है।[१०५] एतदर्थ यजमान की पत्नी को गार्हपत्य के पश्चिमी भाग में दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख उकड़ूँ बैठ जाने अथवा पूर्वाभिमुख खड़ी रहने का विधान है। इस समय आग्नीध्र एक सिरे पर फन्दे से युक्त रस्सी द्वारा सन्नहन करता है तथा अध्वर्यु यजमान की पत्नी के नाभि के बायें भाग में खुलने योग्य गाँठ लगाकर उसे दायीं ओर खींच देता है,[१०६] जिससे वह योक्त्र खुल जाता है। सन्नहन के अनन्तर पत्नी आचमन करती है और खड़ी होकर गार्हपत्य एवं देव पत्नियों का उपस्थान करती है।

इसके बाद वह देवपत्नियों के स्थान[१०७] के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख बैठकर यथाविहित दो मन्त्रों का जप करती है।[१०८] अब

आज्य-निर्वाप करने का विधान है। आग्नीध्र अन्वाहार्यपचन अग्नि पर पिघलाये गये सर्पिधान (घृत-पात्र) के आज्य का मन्त्र पाठ के साथ पवित्र युक्त आज्यस्थाली में (प्रभूत मात्रा में) निर्वपन करता है।[१०९] वह गार्हपत्याग्नि के दक्षिणार्द्ध भाग पर आज्य स्थाली को अधिशृत कर वहाँ से उतारकर वेदी के साथ उसे यजमान पत्नी को दिखाता है। वह आँख को बन्द करने के बाद खोलकर बिना श्वाँस छोड़े हुए आज्य को देखती है। अब आग्नीध्र आज्यस्थाली को गार्हपत्याग्नि के उत्तरार्द्ध भाग पर फिर आहवनीयाग्नि पर अधिशृत करता है। तत्पश्चात् वहाँ से उतारकर प्रोक्षणीपात्र के उत्तर में स्फ्य द्वारा खींची हुई रेखा पर रख देता है।[११०] यजमान इस कर्म का अनुमन्त्रण करता है। इस समय अध्वर्यु और यजमान द्वारा भी पत्नीवत आज्य का अवेक्षण करने का निर्देश प्राप्त होता है। अध्वर्यु उत्तराग्र पवित्रों द्वारा आज्य का, फिर प्रोक्षणी जल का तीन बार उत्पवन करता है।[१११] यजमान इस उत्पवन कर्म का अनुमन्त्रण करता है।

आज्य ग्रहण

उपरिलिखित क्रम के अनन्तर आज्य-ग्रहण का विधान किया जाता है।[११२] अब अध्वर्यु वेदि के मध्य वेद के ऊपर रखे गये स्रुचों में स्रुव द्वारा आज्य स्थाली से आज्य ग्रहण करता है। इस क्रिया में अध्वर्यु जुहू में चार बार अधिक मात्रा में तथा उपभृत् में आठ बार या दश बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में और ध्रुवा में चार बार अथवा पाँच बार अत्यधिक मात्रा में आज्य ग्रहण करता है। ध्यातव्य है कि आज्य ग्रहण करते समय जुहू को आज्यस्थाली की ऊँचाई के बराबर तथा उपभृत को उसके मध्य भाग तक ऊँचा करके स्थापित किया जाता है, किन्तु ध्रुवा भूमि पर ही रखी रहती है, ऊपर नहीं। आज्य को वेदि के बाहर उत्कर के अतिरिक्त किसी भी स्थान पर रख दिया जाता है। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि स्थाली को पश्चिम की ओर ले जाकर रखने का नियम है। अध्वर्यु द्वितीय उपभृत (पृषदाज्यधानी) में पंच गृहीत पृषदाज्य को ग्रहण करता है।[११३]

हविरासादन

आज्य ग्रहण के पश्चात् हविरासादन का विधान करणीय है।

अध्वर्यु हवियों के उद्वासन[११४] के समय आमिक्षा को पृथक्-पृथक् दो पात्रों में रखकर तथा उन पर थोड़े-से वाजिन् का सिंचन करता है। वाजिन के अवशिष्ट भाग को उत्कर में रखता है।[११५] इसके बाद वह एक कपालक पुरोडाश का किसी दूसरे पात्र में उद्वासन कर आज्य से उसे इस प्रकार अभिपूरित करता है कि पृष्ठ भाग भली-भाँति दृष्टिगोचर होता रहे।[११६] वह व्याहृतियों का पाठ करता हुआ समस्त हवियों का वेदि में आसादन करता है।[११७] तदनन्तर यजमान पञ्चहोतृ मन्त्रों द्वारा उन हवियों तथा वाजिन् का अभिमर्शण करता है।[११८]

अग्निमन्थन

दो समिधाओं को आपस में रगड़कर अग्नि पैदा करने की क्रिया को अग्नि-मन्थन कहते हैं। अग्नि मन्थन का यह कार्य हवियों के आसादन के अनन्तर किया जाता है।[११९] स्मर्तव्य है कि अग्नि के उत्पन्न होने के पश्चात् ही प्रजापति की प्रजा का प्रादुर्भाव हुआ था। इस उद्देश्य से अभिप्रेरित होकर कि अग्नि के उत्पन्न होने के पश्चात् यजमान प्रजावान होगा, इस अनुष्ठान को विहित किया जाता है। इसीलिए अध्वर्यु हवियों के स्थापन के अनन्तर अग्नि का मन्थन करता है।[१२०] इसकी प्रक्रिया निरूढ़ पशुबन्ध के समान है। अध्वर्यु द्वारा मन्थन से उत्पन्न अग्नि को आहवनीयायतन में प्रतिष्ठापित कर, आहुति अर्पित की जाती है। तदनन्तर अध्वर्यु समिध्यमान अग्नि के निमित्त सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन हेतु होता को प्रैष देता है।[१२१] आहवनीय अग्नि को प्रज्ज्वलित करने हेतु उसमें समिधाओं का आधान समिधाधान कहलाता है। समिधाधान एवं समिध्यमानाग्नि के निमित्त होता द्वारा जिन ऋचाओं से अनुवचन किया जाता है, उन ऋचाओं का अभिधान सामिधेनी है।[१२२] इन अनुवचनीय ऋचाओं की सुनिश्चित संख्या सप्तदश है।[१२३] प्रकृति रूप में सामिधेनी ऋचाओं की संख्या पन्द्रह ही है।[१२४] दो धाय्या ऋचाओं के मिलने से सामिधेनी ऋचाओं की संख्या सत्तरह हो जाती है। प्रकृतिरूप में प्राप्त पन्द्रह सामिधेनी ऋचाओं की संख्या वस्तुत: ग्यारह ही है, क्योंकि प्रथम और अन्तिम सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन तीन-तीन बार किया जाता है। इस क्रम से पन्द्रह की संख्या पूरी होती है।[१२५] सम्पूर्ण सामिधेनी ऋचाओं का क्रमश: संख्यायन

रूप अग्रलिखित है–

१. **प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या।**
देवाजिगाति सुम्नयुः।।[१२६]

२. **प्रथमा ऋचा की द्वितीयावृत्ति।**

३. **प्रथमा ऋचा की ही तृतीयावृत्ति।**

४. **अग्न आ याहि वीत ये गृणानो हव्यदातये।**
नि होता सत्सि बर्हिषि।।[१२७]

५. **तं त्वा समिद्भिरङिगरो घृतेन वर्धयामसि।**
बृहच्छोचा यविष्ठय।।[१२८]

६. **स नः पृथु श्रवार्‌य मच्छा देव विवाससि।**
वृहदगने सुवीर्यम्।।[१२९]

७. **ईळेन्यो नमस्य स्तिरस्तमासि दर्शतः।**
समग्निरिध्यते वृषा।।[१३०]

८. **वृषो अग्निः समिध्यते श्वो न देववाहनः।**
तं हविष्मन्त ईळते।।[१३१]

९. **वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि।**
अग्नेदीद्यतं बृहत।।[१३२]

१०. **अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम।**
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम।।[१३३]

११. **समिध्यमानो अध्वरेऽग्निः पावक ईडयः।**
शोचिष्केशस्तमीमहे।।[१३४]

१२. **समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर।**
त्वं हि हव्यवालळसि।।[१३५]

१३. **आ जुहोता दुयवस्यताऽग्निं प्रयत्यध्वरे।**
वृणीध्वं हव्यवाहनम्।[१३६]

१४. **त्रयोदशा ऋचा की द्वितीयावृत्ति**

१५. **त्रयोदशा ऋचा की तृतीयावृत्ति।**

ग्यारहवीं ऋचा समिध्यमान अग्निकालीन ऋचा है तथा बारहवीं ऋचा समिद्धवती है। इन उभय ऋचाओं के मध्य में धाय्या ऋचाओं का पाठ किया जाता है, जो अग्रलिखित हैं–

१. पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिकम्वाहुतः।
अग्निर्यज्ञस्य हव्यवासन्।।[१३७]
२. तं सबाधो यतसुच इत्था धिया यज्ञवन्तः।
आ चक्रुरग्निमूतये।।[१३८]

आचार्य आपस्तम्ब के अनुसार दर्शपूर्णमास याग में पन्द्रह तथा पशुबन्ध यागों में सत्तरह सामिधेनी ऋचाओं का विधान है।[१३९] इन ऋचाओं के अनुवचन से समिध्य अग्नि अत्यधिक तप्त हो जाता है। तप्त अग्नि अनवमृश्य और अनवधृष्य होता है।[१४०] इस प्रकार का अग्नि लौकिक अग्नि की अपेक्षा अधिक तप्त होने के कारण राक्षस आदि से हिंसित तथा स्पृष्ट नहीं होता। इन ऋचाओं के उच्चारण के अन्तर्गत उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित नामक स्वरोच्चारणों पर ध्यान देना आवश्यक नहीं होता। उच्चारण के इस नियम का ही अभिधान एक श्रुति है। प्रत्येक पद्य के अन्त में होता द्वारा 'ॐ' का उच्चारण किया जाता है। होता के 'ॐ' कहते ही अध्वर्यु आहवनीय में समिधा डालता है,[१४१] जिसका प्रावधान आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[१४२] पन्द्रह सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन के साथ पन्द्रह समिधाओं का आधान करके एक समिधा अनुयाजयाग के निमित्त बचा ली जाती है।[१४३]

ज्ञातव्य है कि प्रधान याग के अनन्तर किये जाने वाले याग का अभिधान अनूयाज याग है।[१४४] होता द्वारा पढ़ा गया मन्त्र अनूयाज कहलाता है। ऐतरेय ब्राह्मणकार के अनुसार एकादश देव विशेषों को अनूयाज कहा जाता है।[१४५] सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन काल में यजमान दशहोतृ मन्त्र का पाठ करके समिद्ध अग्नि का अनुमन्त्रण करता है। होता के "आजु होत०" से आरम्भ होने वाले इस मन्त्र का उच्चारण करने पर अध्वर्यु द्वारा शेष इध्मों को अग्नि में डालकर आहवनीय अग्नि का तीन बार उपवाजन किया जाता है।

प्रयाज[१४६] आहुतियाँ

आज्य की वे आहुतियाँ जो प्रधान याग के पूर्व प्रदान की जाती हैं, उनहें प्रयाज आहुतियाँ कहते हैं। इसका प्रयोग प्रत्येक इष्टि में करणीय हैं। इस याग के पाँच देवता क्रमशः १. समिध, २. तनूनपात्, ३. इडा, ४. बर्हि एवं ५. स्वाहाकार हैं।[१४७]

इस याग के अन्तर्गत इन पाँचों देवताओं को पृथक्-पृथक् एक-एक आज्य की आहुति प्रदान की जाती है। प्रत्येक यज्ञ में देवताओं के आह्वान और यजन का कार्य होता ही सम्पन्न करता है। इसमें बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमन्त इन ऋतुओं का यजन पाँच प्रयाजों द्वारा सम्पन्न किया जाता है।[१४८] देवताओं के आह्वान के समय ही होता द्वारा निगद् पाठ से धृतवती का उच्चारण किया जाता है तथा वह अध्वर्यु को स्रुचों के आदान हेतु प्रैष देता है।[१४९] अध्वर्यु स्रुचों को लेकर प्रयाज आहुतियों के मन्त्रोच्चारण के निमित्त होता को प्रैष देता है। अध्वर्यु प्रैष हेतु प्रथम प्रयाज मन्त्र में ''समिधो यज्ञ०'' तथा शेष प्रयाज मन्त्रों में 'यज' मात्र प्रैष का उच्चारण करता है।[१५०] होता द्वारा प्रैष प्राप्त करके प्रासंगिक मन्त्रों का यथासमय अनुवचन किया जाता है।

प्राय: सभी श्रौत साहित्य के अनुसार वैश्वदेव याग में नव प्रयाज आहुतियों का विधान करणीय है।[१५१] इसके अन्तर्गत चतुर्थ आहुति उपभृत स्थित आज्य के अर्द्धभाग से तथा अष्टम आहुति उपभृत के सम्पूर्ण आज्य से जुहू द्वारा प्रदान की जाती है।[१५२] तदनन्तर यजमान द्वारा इन प्रयाज आहुतियों का अनुमन्त्रण किया जाता है।[१५३] इस अवसर पर दक्षिणा में यजमान द्वारा गाय के प्रथमोत्पन्न वत्स अथवा गाय या बैल के जोड़े को प्रदान किया जाता है।[१५४] प्रधान आहुतियों के अनन्तर अध्वर्यु द्वारा उपभृत में स्थित पृषदाज्य को जुहू में ग्रहण करके नौ अनुयाज आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[१५५] सूक्तवाक् एवं शंयुवाकादि का सम्पादन तथा अग्नि में परिधियों का स्थापन प्रकृतिवत् सम्पन्न किया जाता है।[१५६] तत्पश्चात् संस्राव होम के सम्पादन का विधान है।[१५७]

प्रधान याग एवं वाजिन् याग[१५८]

आज्य भाग कर्म की समाप्ति के पश्चात् अध्वर्यु द्वारा वेदि के उत्तर की ओर लौटकर ध्रुवा से स्रुव में आज्य लेकर उसे जुहू को अजित किया जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु अवदानीकरण के निमित्त पुरोडाश को स्पर्श करता है।[१५९] ज्ञातव्य है कि पुरोडाश के छोटे टुकड़ों को अवदान की संज्ञा प्राप्त है, जिसका प्रयोग आहुति देने में किया जाता है। अवदान ग्रहण के समय यजमान द्वारा पञ्चहोतृ मन्त्र का पाठ किया जाता है। अध्वर्यु दाहिने हाथ की दो अँगुलियों अनामिका और

मध्यमा तथा अँगूठे के माँसल भाग से अग्निदेवताक पुरोडाश के मध्य अँगूठे के पोर के बराबर प्रथम अवदान ग्रहण करता है।[१६०] पुरोडाश के पूर्वार्द्ध भाग से द्वितीय अवदान चतुरवत्तिन् यजमान के लिए तथा पश्चिमार्द्ध भाग से तृतीय अवदान पंचावत्तिन् यजमान के लिए ग्रहण किया जाता है। अध्वर्यु द्वारा अवदानों का अभिधारण करके हवियों का प्रत्यभिधारण किया जाता है।

आग्नेय पुरोडाश याग

आग्नेय पुरोडाश याग के पुरोनुवाक्या और याज्या पाठ[१६१] के निमित्त अध्वर्यु द्वारा होता को प्रैष दिया जाता है। अब अध्वर्यु वेदि के दक्षिण की ओर जाकर होता द्वारा वषट्कार किये जाने पर सर्वप्रथम आज्य की आहुति देता है, तत्पश्चात् जुहू के मुख को थोड़ा नीचे की ओर झुकाकर पुरोडाश के अवदान की आहुति प्रदान करता है। अन्त में पुनः हवि के ऊपर थोड़ा-सा आज्य गिरा दिया जाता है। वाजिन्याग पर्यन्त सभी आहुतियाँ प्रथम पुरोडाश आहुति के पूर्व में क्रमशः एक दूसरे से स्पर्श कराती हुई दी जाती है। ध्यातव्य है कि स्रुच् द्वारा दी गयी आधार आहुति के रेखा पर ही क्रमशः पूर्व की ओर आहुतियों को देने का विधान विहित है।[१६२] यजमान द्वारा इस आग्नेय आहुति का अनुमन्त्रण किया जाता है। आग्नेय पुरोडाश याग के अनन्तर प्रजापति या अग्नि एवं सोम अथवा अग्नि विष्णु देवता के निमित्त आज्य द्रव्यक उपांशु याग किया जाता है।[१६३]

इस याग में आश्रुत, प्रत्याश्रुत, याज्यानुवाक्या प्रैष एवं वषट्कार उच्च स्वर में किन्तु देवता का निर्देश उपांशु स्वर में करने का निर्देश है।[१६४] इसके बाद आग्नेय पुरोडाश याग की विधि से ही उत्तर पुरोडाश याग का अनुष्ठान किया जाता है। इस याग में देवता पूर्णमासेष्टि में अग्नि और सोम तथा दर्शेष्टि में (यजमान के असन्नय्ययाजी होने पर) इन्द्राग्नि है।[१६५] यजमान के सन्नाय्ययाजी होने पर इन्द्र अथवा महेन्द्र देवताक सन्नाय्य याग किया जाता है।[१६६] इस याग में आहुति देने के लिए श्रृत (गर्म) दुग्ध और दधि के दो-दो अवदान अथवा तीन-तीन अवदान (यजमान के पञ्चावत्तिन होने पर) ग्रहण किये जाते हैं। यजमान द्वारा ये सभी हवियाँ अभिमन्त्रित की जाती हैं। तदनन्तर आज्य

द्रव्यक दो पार्वण होमों[१६७] एवं छः नारिष्ठ होमों[१६८] का भी विधान किया जाता है।

इस याग में सविता देवता एवं द्यावापृथिवी के निमित्त एक-एक कपालक पुरोडाश याग का अनुष्ठान उपांशु स्वर में किया जाता है।[१६९] आमिक्षा याग के अनन्तर अध्वर्यु जुहू में एक कपालक पुरोडाश का अखण्डरूप में अवदान ग्रहण कर अग्नि में आहुति देता है।[१७०] तत्पश्चात् वह इस एक कपालक पुरोडाश पर चार मासों के नामों से युक्त मन्त्रों द्वारा चार आहुतियाँ प्रदान करता है।[१७१] तदनन्तर वाजिन् याग प्रारम्भ किया जाता है।

वाजिन् याग[१७२]

प्रधान याग के अनन्तर वाजिन् याग का अनुष्ठान सम्पादन किया जाता है। अध्वर्यु द्वारा वाजिन् याग के निमित्त एक अन्य उपस्तृत वाजिन् पात्र को वेदि में स्थापित किया जाता है।[१७३] उस पात्र को वाजिन् पात्र के वाजिन से अभिपूरित करने का विधान है,[१७४] किन्तु उसका अभिधारण निषिद्ध है।[१७५] आश्रावण, प्रत्याश्रावण, याज्यानुवाक्या पाठ तथा वषट्कार के अनन्तर अध्वर्यु स्रुच द्वारा वाजिन् का आश्रावण करते हुए आहुति प्रदान करता है। स्मर्तव्य है कि होता को श्वाँस ग्रहण किये विना ही सतत रूप से याज्या पाठ करना चाहिए।[१७६]

इसके बाद अध्वर्यु वाजिन् के अवशिष्टांश से निरूढ़ पशुबन्ध के वसा होम की भाँति प्रत्येक दिशा में एक-एक आहुति प्रदान करता है। तदनन्तर ऋत्विज् एक-दूसरे का समुपाह्वान करके वाजिन् के अवशिष्ट भाग का भक्षण करते हैं।[१७७]

वाजिन् भक्षण के क्रम में विद्वानों के एक वर्ग के अनुसार सर्वप्रथम होता तथा अन्त में अन्य ऋत्विजों के भक्षण के पश्चात् यजमान वाजिन् का प्राशन करता है।[१७८] दूसरे वर्ग के अनुसार सर्वप्रथम यजमान ही वाजिन् का भक्षण करता है।[१७९] वाजिन् भक्षण के अनन्तर सभी कृत्य प्रकृतिवत् सम्पन्न किये जाते हैं।[१८०] समिष्ट यजुष आहुतियाँ पशुयाग की विधि से अर्पणीय हैं।[१८१]

अन्तराल व्रत[१८२]

चातुर्मास्य यज्ञ के सभी पर्वों में यजमान को कतिपय नियमों का

अनुपालन करना पड़ता है। अनुष्ठानकालिक जिन नियमों का पालन यजमान द्वारा किया जाता है, उसे अन्तराल व्रत कहते हैं। यजमान अपने आयतन में बैठकर सिर को जल से भिगोता है, तत्पश्चात् तीन धारवाली शलाका से केशों को सँवारता है। इसके अनन्तर यजमान द्वारा दाढ़ी-मूँछ और सिर के बालों का वपन कराया जाता है। इस क्रिया के समय यजमान मन्त्र का जप करता है। इन पर्वों के मध्य में यजमान को माँस-भक्षण, अनृतकथन, स्त्री-सम्भोग, शरीरालंकरण, नमक एवं मधु आदि का सेवन नहीं करना चाहिए। इन नियमों के पालन के साथ-साथ अनुष्ठानकाल पर्यन्त यजमान को पृथ्वी पर ही सोने का विधान है।[१८३] ज्ञातव्य है कि आचार्य आश्वलायन ने वैश्वदेव पर्व के अनुष्ठान के पश्चात् दूसरे दिन पूर्णमासेष्टि का अनुष्ठान किये जाने का विधान प्रस्तुत किया है।[१८४]

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि वैश्वदेव पर्व चातुर्मास्येष्टि की प्रकृति यज्ञ है, जिसके सम्पादनार्थ हविर्यागों की प्रकृति यज्ञ (दर्शपूर्णमास याग) की आनुष्ठानिक विधाओं को भी आधार बनाना पड़ता है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में वर्णित इस याग के विधि विधानों में यद्यपि यत्किञ्चित् पार्थक्य प्राप्त होते हैं, तथापि सम्यक् रूप से इसकी आनुष्ठानिक प्रक्रिया समान रूप में ही विहित की गयी है। इसके अनुष्ठानकाल, देवता एवं द्रव्य तथा दक्षिणा विधानों के सन्दर्भ में यज्ञाचार्यों द्वारा अल्प मतभेद भी उपन्यस्त हैं, जिनका यथाशक्य विवेचनपूर्व लिखित है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. तै०सं०, २.८.२ ''वैश्वदेव्यो वै प्रजा:'', प्रजां एवास्मै प्रजनयति।'', मै०सं०, १.१०.१ ''वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत।'' का०सं०, ३६.१-४ ''यद्वैश्वदेव्या ऽमिक्षया प्रजा असृजत्।'' श०ब्रा०, २.५.२.१ ''वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः। प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्टा।'' कौ०ब्रा०, ५.१.१७-१८, ''प्रजापति वैं वैश्वदेवम्। तस्मादेतं दैव गर्भ प्रजनयन्तिं।'' जै०ब्रा०, २.२२९, गो०ब्रा०, १.१९ ''प्रजापतिर्वै वैश्वदेवम् प्रजात्या एव। अथैतं दैव गर्भ प्रजनयति।'' तै०ब्रा०, १.६.२

२. वै०को०, पृ० ३९५

३. आप०श्रौ०, ८.४.१३ ''बसन्ते वैश्वदेवेन यजेत।'' जै० ११.२.१३ शबरभाष्य–''बसन्ते वैश्वदेवेन यजेत।''

४. तै०ब्रा०, १.४.९, ''फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां वैश्वदेवाख्यम्।'' वै०को०, पृ० ३९५, शा०बा०, ५.१, ''फाल्गुन्यां पौर्णमास्या त्रैश्वदेवेन यजते।'' वैता०सू०, ७.८.१, गो०ब्रा०, २.१.१९–२०

५. कात्या०श्रौ०, ५.१.१, ''फाल्गुन्यां पौर्णमासं चैत्र्यां वा वैश्वदेवेन यजते।'' बौधा०श्रौ०, ५.१.४ ''वैश्वदेवहविर्भियक्ष्माणे भवति फाल्गुन्यां वा चैत्र्यां वा पौर्णमास्याम!'' मान०श्रौ०, १.७.१.५, भा०श्रौ०, ८.१.१, पृ० १०२

६. आश्व०श्रौ०, २.१५–२०

७. कात्या०श्रौ०, ५.१.२

८. वही, ५.१ (टीका)

९. वैखा०श्रौ०, १९.३, ८.३, ''बसन्ते वैश्वदेवनं यजेत। फाल्गुन्यां चैत्यां पौर्णमास्यां वोदगयन आपूर्ण्यमाण पक्षस्य पुण्याहे वा प्रयुजीत।'' बौधा०श्रौ०, ५.१, ''वैश्वदेव हविर्भि: यक्ष्यमाणौ भवति फाल्गुन्यां वा चैत्र्यां व पौर्णमास्याम्।'' तु०सत्या०श्रौ०, ५.१, पृ० ४४८, कात्या०श्रौ०, ५.१.१६, आश्व०श्रौ०, २.२०.२, मान०श्रौ०, ८.१.६

१०. कात्या०श्रौ०, ५.११.१–२

११. वही, ५.१.१५, पृ०, ४२८

१२. ऋ०, ४.१.२०, अग्रणी भवति। अग्निर्हि देवानां सेनानी। तथा ऐ०ब्रा०, १.१.१ पृ० १२, ''अग्निर्वैदेवतानामवमो।''

१३. तै०सं०, १.८.२, ''आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति।'' मै०सं०, १.१०.१, ''आग्ने इयोष्टकपाल:।'' का०सं०, ९.४, ''आग्नेयोष्टाकपाल:।'', कपि०सं०, ८.७, श०ब्रा०, २.५.१.८, ''आग्नेयोष्टाकपाल: पुरोडाशो: भवति।'' कात्या०श्रौ०, ५.१.५, पृ० ४.२७ ''आग्नेय:। अष्टाकपाल: पुरोडाश: प्रथमं हविर्भवति।'' सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५० ''आग्नयेमष्टाकपालं निर्वपति।'' बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८ ''प्रणीयाग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति।'' वैखा०श्रौ० १९.४, ८.४, भा०श्रौ०, ८.१.१–१९, ''आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति।'' मान०श्रौ०, १.७.१.१६, ''आग्नेयोष्टाकपालं निर्वपेत्।''

१४. ऐ०ब्रा०, १.१.१, पृ० १६–१७

१५. तै०सं०, १.८.२, ''सौम्यं चरूँ।'' मै०सं०, १.१०.१, ''सौम्यश्चरू:, कपि०सं०, ८.७, का०सं०, ९.४ ''सौम्यश्चरु:।'' श०ब्रा०, २.५.१.९, ''अथ सौम्यश्चरुर्भवति।'' कात्या०श्रौ०, ५.१.६, पृ० ४२७, ''सौम्यश्चरू:।'' सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ०, ४५०, ''सौम्यं चरूँ'' बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, ''सौम्यं चरूँ।'' भा०श्रौ०, ८.१.१–१९, पृ० १०२, ''सौम्यं चरूँ'' वैखा०श्रौ०, १९.४, ८.४, श्रौ०प०नि०, ७८.४.६१

१६. द्र०श०ब्रा०, २.५.१.९

१७. तै०सं०, १.८.२, ''सावित्रं द्वादशकपालं'' मै०सं०, १.१०.१ ''सावित्रो द्वादशकपाल:।'' का०सं०, ९.४ ''सावित्रे द्वादशकपाल:।'' कपि०सं०, ८.७, बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, सावित्रं द्वादशकपालं'' सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५०, ''सावित्रं द्वादश कपालं।'' भा०श्रौ०, ८.१.१-१९, ''सावित्रं द्वादश कपालं।'' श्रौ०प०नि० ७८.४६१

१८. श०ब्रा०, २.५.१.१०, ''अथ सावित्र:। द्वादशकपालोवाऽष्टापालो वा पुरोडाशो भवति।'' कात्या०श्रौ०, ५.१.७, पृ० ४२७, ''सावित्रो द्वादशकपालोऽष्टाकपालो वा।''

१९. का०सं०, ९.४.५, ''इत्यत्र वैश्वदेव एव सावित्रो द्वादशकपालं उत्तरेषु पर्वसु सावित्रोऽष्टाकपालो विहित:।''

२०. सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५०, ''उत्तरेषु पर्वसु सावित्रमष्टाकपालमेकं समामनन्ति।'' वाछेश्वर:–''उत्तरेषु वरुणप्रघासादिषु सावित्रमष्टाकपालं द्वादशकपाल स्थाने एके शाखिन: समामनन्ति।''

२१. तै०सं०, १.८.२, ''सारस्वतं चरुं।'' मै०सं०, १.१०.१, ''सारस्वतं चरू:।'' कपि०सं०, ८.७, का०सं०, ९.४, ''सारस्वतश्चतरु:।'' श०ब्रा०, २.५.१.११, ''अथ सारस्वतश्चरूर्भवति।'' कात्या०श्रौ०, ५.१.८, पृ० ४२७, ''सारस्वतश्चरू:।'' सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५०, ''सारस्वतं चरूँ।'' बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, ''सारस्वतं चरूँ।'' भा० श्रौ०, ८.१.१-१९, ''सारस्वत चरूँ।'' वैखा०श्रौ०, १९.४, ८.४, श्रौ०प०नि०, ७८.४.६१

२२. द्र०, श०ब्रा०, २.५.१.११''...योषा वै सरस्वती...।''

२३. तै०सं०, १.८.२, ''पौष्णम् चरं।'', मै०सं०, १.१०.१, ''पौष्णश्चरु:।'' कपि०सं०, ८.७, का०सं०, ९.४, ''पौष्णश्चरु:'', श०ब्रा०, २.५.१.१२, ''पौष्णश्चरू:'', कात्या०श्रौ०, ५.१.९, पृ० ४२७, ''पौष्णश्चरू: प्रपिष्टानाम् प्रकर्षेण पिष्टानां व्रीहि तण्डुलानाम्'' सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५०, ''पौष्णं चरूम्'' बौधा०श्रौ० ५.१, पृ० १२८, ''पौष्णं चरूं।'' भा०श्रौ०, ८.१.१-१९, ''पौष्णं चरूं।'' वैखा०श्रौ०, १९.४, ८.४, श्रौ०प०नि०, ७८.४६१

२४. मान०श्रौ०, १.७.१.२२, ''चरुषु पिष्टभावपूषा सर्वत्र।''

२५. तै०सं०, १.८.२, ''मरुतँ सप्तकपालं।'', मै०सं०, १.१०.१, ''मारुत: सप्तकपालो।'' का०सं०, ९.४, ''मारुतस्सप्तकपाल:'', कपि०सं०, ८.७, श०ब्रा०, २.५.१.१३, ''मारुत: सप्तकपाल: पुरोडाशो भवति।'' कात्या०श्रौ०, ५.१.१७, मरुतो वा। सप्तकपाल: पुरोडाश: षष्ठं हवि:। सत्या०श्रौ०, २.५.१, मारुतँ सप्तकपालं, बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, मारूतँ सप्तकपालं। भा०श्रौ०, ८.१.१, पृ० १०२, ''मारूतँ सप्तकपालं।'' मान०श्रौ०, १९.४.८.४, श्रौ०प०नि० ७८, ४६१, मान०श्रौ०, १.७.१.१६, ''मरुद्भ्य: स्वतवद्भय: सप्तकपालम्।''

२६. द्र०, श०ब्रा०, २.५.१.१३, ''सप्तकपालस्तद्यत्सप्तकपालोभवति सप्त-सप्त हि

मारुतो गणस्तस्मान्मारूतः सप्तकपालः पुरोडाशो भवति।''

२७. तै०सं०, १.८.२, ''वैश्वदेवीमामिक्षां'' मै०सं०, १.१०.१, ''वैश्वदेव्यामिक्षा'', का०सं०, ९.४, ''वैश्वदेव्यामिक्षा'', कपि०सं०, ८.७, श०ब्रा०, २.५.१.१५, वैखा०श्रौ०, १९.४, ८.४, सत्या०श्रौ०, २.५.१, ''वैश्वदेवीमामिक्षा'', बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, ''वैश्वदेवीमामिक्षा।'' भा०श्रौ०, ८.१.१, पृ० १०२, ''वैश्वदेवीमामिक्षी।'' काश०ब्रा०, १.७.४, श्रौ०प०नि०, ७८.४६१

२८. कौ०ब्रा०, ५.१.१-३, १.१६, ''अथ यद् वैश्वदेवी पयस्या।'' कात्या०श्रौ०, ५१.१८, ''वैश्वदेवी पयस्या। सप्तमं हविः।'' शाङ्खा०ब्रा०, ५.१-२, ''अथ वैश्वदेवी पयस्या।''

२९. श०ब्रा०, २.५.१.१६, ''तस्यां मिथुनमस्ति। योषा पयस्या रेतो वाजिनं तस्यान्मिथुनाद्विश्वमसंमितमनु प्राजायत तद्यदेतस्मान्मिथुनाद्विश्वमसंमितमनु प्राजायत तस्माद्वैश्वदेवी भवति।''

३०. तै०सं० ,१.८.२, ''द्यावापृथिव्यमेककपालम्'' १.१०.१, ''द्यावापृथिवीया एककपालः।'' का०सं०, ९.४, ''द्यावापृथिव्य एककपालः।'' कपि०सं०, ८.७, श०ब्रा०, २.५.१.१७, ''अथ द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति। कौ०ब्रा०, ५.१, १-३, २-१९, ''अथ यद् द्यावापृथिवीयएककपालः।'' शाङ्खा०ब्रा०, ५. १-२, अथ यद् द्यावापृथिवीयएककपालः।'' काश०ब्रा०, १.६.४, कात्या०श्रौ०, ५.१, पृ० ४२८ ''द्यावापृथिवीयएककपालः।'' अष्टमहविः।'' सत्या०श्रौ०, २. ५.१, पृ० ४५०, ''द्यावापृथिव्यमेककपालम्।''बौधा०श्रौ०५.१,पृ०१२८, ''द्यावापथिव्यमेककपालमिति।''मान०श्रौ०, १.७.१.१६, ''द्यावापृथिवीयमेककपालम्।'' भा०श्रौ०, ८.१.१,प०१०२, ''द्यावापृथिव्यमेककपालमिति।'' श्रौ०प०नि०, ७८ ,४६१

३१. श०ब्रा०, २.५.१.१७, प्रजाः सृजते द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहृणाति तस्माद्यावापृथिव्यमेककपालः।''

३२. का०सं०, ३६.१.४, ''प्रवणे यजेत प्रजननाय।'' कात्या०श्रौ०, ५.१.२१, पृ० ४२८, ''प्राचीन प्रवणं निम्नं यस्मिन्नसौ प्राचीन प्रवणो देशः तस्मिन्प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेतेति शाखान्तरात्।'' सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४४८, ''प्राचीन प्रवणे वैश्वदेवेन यजते।'' मान०श्रौ०, १.७.१.५, ''प्राचीन प्रवणे वैश्वदेवेन यजते।'' द्र०जै०, १.३.२२ एवं ११.२.१, शबर भाष्य-''प्राचीन प्रवणे वैश्वदेवेन यजते।''

३३. मै०सं०, १.१०.५-९, ''त्रेधा संनद्धं बर्हिभवति।'' का०सं०, ३६.१.४, ''त्रेधा संनद्धं बर्हिर्भवति।'' कपि०सं०, ८.७, श०ब्रा०, २.५.१.१८, ''त्रेधा बर्हिसंनद्धं भवति।'' तै०ब्रा०, १.६.२-३, ''त्रेधा बर्हिः सनद्धं भवति।'' कात्या०श्रौ०, ५. १.२५-२६, ''त्रेधा बर्हि संनद्धं भवति, कुशप्रस्वजः प्रस्तर उपसंनद्धः।'' भा०श्रौ०, ८.१.१, पृ० १०२, ''तत् त्रेधा संनध्यैकधापुनः संनह्यति। बौधा०श्रौ०,

५.१, पृ० १२८, ''त्रेधा बर्हिः संनद्धं तदेकधा पुनः संनद्धं...।'' आश्व०श्रौ०, ५.१

३४. वैखा०श्रौ०, १९.३, ८.३, बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, ''निर्वपति वैश्वानरं द्वादशकपालं पार्जन्यं चरु।'' भा०श्रौ०, ८.१.१-२, ''वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्वपति पार्जन्यं चरुम्।'' सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४४८, ''निर्वपति वैश्वानरं द्वादश कपालं पार्जन्यं चरुम्।'' मान०श्रौ०, १.७.१, ''वैश्वानराय द्वादश कपालं निर्वपति पार्जन्यं चरुम्।'' कात्या०श्रौ०, ५.१.३, ५.१.४, ''वैश्वानरोद्वादशकपालः।'' उत्तरः पार्जन्यः चरुर्भवति शाखान्तरात्।'' आश्व०श्रौ०, २.१५.२, ऋग्वे०सं०, ७.१०२.१-१.९८.२, ५.८३.४

३५. कात्या०श्रौ०, ५.१.२, ''अयमन्वारम्भणीयया सह विकल्पः इच्छया वैन्यो इछयान्वारम्भणीयेति शाखान्तरात्।'' तु०भा०श्रौ०, ८.१.५. पृ० १०२, ''सैषान्वारम्भणीयायाः स्थानं प्रत्येति।'' बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, ''हविषमारम्भणीयामिष्टि।''

३६. भा०श्रौ०, ८.१.१-३, पृ० १०२, ''हिरण्यं वैश्वानरे ददाति। धेनु पार्जन्ये।'' सत्या०श्रौ०, ५.१, पृ० ४४८, ''हिरण्यं वैश्वानरे धेनुपार्जन्ये।'' मान०श्रौ०, १. ७.१-३, ''धेनुरनड्वांश्च दक्षिणा।'' कात्या०श्रौ०, ५.१, पृ० ४२७, हिरण्यं वैश्वानरे ददाति धेनुं पार्जन्य इति।'' आप०श्रौ०, ''हिरण्यं वैश्वानरे ददाति धेनुं पार्जन्य इति।''

३७. ऋग्वेद, १०.१०.१६, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४४८, गार्हयत्यादग्निप्रणयनं पशुबन्धवदिति।''

३८. ऋ०, ५.८२.७ एवं ६.७१.६

३९. आश्व०श्रौ०, २.१५.२०, ''अनुयाजानां सूक्तवाकस्य शंयुवाकस्य वोपरिष्टाद् वाजिभ्यो वाजिनमनावाह्यादेशम्।'' श०ब्रा०, २.४.४.२२, ''वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति'' शाङ्खा०ब्रा०, ५.१-२, ''अथ यत्पुरस्ताद्वोपरिष्टाद्वादशंयोर्वाकस्या नावाहितान् वाजिनो यजति।'' काश०ब्रा०, १.६.४, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३, ''वाजिभ्यो अनुब्रूहि वाजिनों यजेति सम्प्रेष्यति यथाक्रमम्।'' मै०सं०, १.१०.९, ''यजति वाजिनो यजति।'', गो०ब्रा०, २.१.१९-२०, ''अथ यद्वाजिनो यजति।'' तै०सं०, ४.१.११, मै०सं०, ४.१०.३, का०सं०, ३६.३-४, मै०सं०, १.१०.१, ''वाजिना ँ वाजिनम्।'' तै०ब्रा०, १.६.२-३, ''वाजिनो यजति।'' वा०का०सं०, ३.९, ऋ०सं०, ७.३८.७-८

४०. सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५४, ''यजमानः प्रथम उत्तमो वा।'' तै०ब्रा०, १. ६.३, ''यजमानः उत्तमो भक्षयति। श०ब्रा०, २.४.४.२५ ''प्रथमो यजमानो भक्षयति...अथवा अप्युत्तमः।

४१. कात्या०श्रौ०, ५.२.२, पृ० ४३५, ''एष त इति। त्रयाणां क्रमेण इदं वाताय इदं यज्ञाय इदं यज्ञपतये इति त्यागाः अत्राभ्यासेन संख्यापूरणम्

उत्पन्नयोगात्संख्यायाः।''

४२. का०सं०, ९.४, ''प्रथमजो गौर्दक्षिणा।'' कपि०सं०, ८.७, श०ब्रा०, २.५.१. २१, ''तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा।'' कौ०ब्रा०, ५.१.१-३, २-२१, ''अथ यत् प्रथमजं गां ददाति'' शांखा०ब्रा०, ५.१-२, ''अथ यत् प्रथमजं गां ददाति।''

४३. सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४४८, ''गार्हपत्यादग्निप्रणयनं पशुबन्धवदिति।'' मान०श्रौ०, ८.१.६, वैखा०श्रौ०, १९.३, ८.३

४४. वैखा०श्रौ०, १९.३, ८.३, कात्या०श्रौ०, ५.१.२६, ''कुशप्रस्वः प्रस्तर उपसंनद्धः।'' बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, ''प्रसूमयं प्रस्तरमित्यथोपवसथीये हन्द्रिहविषमारम्भणीयमिष्टिं निर्वपति।''

४५. दर्शपूर्णमास की भाँति। बौधा०श्रौ०, ५.१, पृ० १२८, ''प्रातर्हुते अग्निहोत्रे पुरापां प्रणयनाट्गार्हपत्य...।''

४६. कात्या०श्रौ०, ५.२.१-३, ''अग्नये मध्यमानापानुवाचयति।'' ''मन्थति गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रं त्रिः प्रदक्षिणम्।'' अध्वर्युः। जाते जातायेति। बौधा०श्रौ०, १.४.३, २३-२४, २०.४-५, २४-२४, वैखा०श्रौ०, १५.१-३, ४.१-३, मान०श्रौ० १-१६-१८, ४.५, ३.१४-१६, सत्या०श्रौ०, १.४, २.८, ६.१, भा०श्रौ० १.२. १, १.४.१, ५.२.१५, वारा०श्रौ०, १.२.४, १.१.२, १.१.५, आश्व०श्रौ०, १.१२, शाङ्खा०श्रौ०, ४.६.७, ४.११.१-३, ६-९, द्रा०श्रौ०, १२.३.३१, ३२, १२. ३.३-८, वैता०श्रौ०, १-२, तै०सं०, १.१.४, १.६.८, मै०सं०, १.१.४, ४.१.४, १. ४.१०, का०सं०, ३१.३, कपि०सं०, ४७.३, वा०सं०, १.६, श०ब्रा०, १.१.१, ११.५.८.७, ११.२.७, २३, वा०का०सं०, २.३, १.३, का०श०ब्रा०, २.१.१, १३. ५.८.८, १३, २.२.१२, शाङ्खा०ब्रा०, ६.१०.'१३, जैमि०ब्रा०, १.३५८, तै०ब्रा०, ३.७.४, ६, ३.२.४, अ०सं०, १९.१३.२, अपै०सं०, ७.४.२, गौ०ब्रा०, १.२.२४, १.३.१०, २.१.३, २.१.१

४७ वैखा०श्रौ०, १५.१, ४.१, मान०श्रौ०, १.२.१.१, तै०ब्रा०, ३.२.२४

४८. द्र०, तै०सं०, १.६.८.२-३, श०ब्रा०, १.१.१.२२, वैखा०श्रौ०, १५.१, ४.१, ''स्फ्यं च कपालानि चाग्निहोत्रहवणीं च शूर्प च, कृष्णाजिनं च, शम्यां चौलूखलं च मुसलं च दृषच्चौपलां चेति पंच द्वन्द्वानि खदिरं स्रुवं पालाशीं जुहमाश्वत्योमुपभृतं वैककतीध्रुवां वेदं पात्रीमेक्षणं प्राशित्रहरणाभिडापात्रं प्रणीता प्रणमनमिति पंच द्वन्द्वानि। तु०मान०श्रौ०, १.१६.१-३, कात्या०श्रौ०, २.३.८, जै०, ४.१.७-१०, हि०ध०शा०, २.२, पृ० ९८५, पाटि०, २२३३

४९. वैखा०श्रौ०, १५.४.१, बौधा०श्रौ०, १.४, सत्या०श्रौ०, १.४, भा०प्रौ०,१.१६.४ मान०श्रौ०, २.१.४, कात्या०श्रौ०, १.३.३६ एवं भाष्य, हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०२०, पाटि० २२९६

५०. तै०सं०, ३.२.४.४, तै०ब्रा, ३.७.६, वैखा०श्रौ०, १५.१-२, ४.१-२, आप०श्रौ० ३.१८.१-४, कात्या०श्रौ०, २.१.२१-२४, पी०वी० काणे, हि०ध०शा०, २.२,

पृ० १०२०-२१ एवं पाटि०, २२९७

५१. वैखा०श्रौ०, १५.२, ४.२, ''अध्वर्युरत्रासंनयतः पवित्रे कृत्वा...।'' मान०श्रौ०, १.१७.६-९

५२. जै०, ४.२.१४-१५

५३. वैखा०श्रौ०, १५.२, ४.२, मान०श्रौ०, १.१७.१०-११, आप०श्रौ०, १.१६.१-३

५४. तै०सं०, १.१.५.१, वैखा०श्रौ०, १५.२, ४.२, अध्वर्युरत्रासंनयतः पवित्रे कृत्वा...। भा०श्रौ०, १.१८, १-३, आप०श्रौ०, १.१६.३, उत्पवन के लिए द्र० सत्या०श्रौ०, १.३, पृ० ९४ की व्याख्या। अत्पवन मुदगग्राम्यां पवित्राम्यामूहर्वपवनं शोधनमपाम्।

५५. वैखा०श्रौ०, १५.३, ४.३, भा०श्रौ०, १.१८.४-८, आप०श्रौ०, ४.४.१.४, कात्या०श्रौ०, २.३.१-४, मान०श्रौ०, १.२.१.८

५६. द्र० प्रथम अध्याय

५७. आप०श्रौ० १.१७.१०, भाष्य-''देवतार्थत्वेन पृथक्करणं निर्वापः।'' हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०२३, "Taking out handful's of grains or portion of other sacrificial material."

५८. तै०सं०, १.१.४, १.५.१०, १.१.५, १.६.८, का०सं०, १.४.५, ३१.३-४, कपि०सं०, १.४-५, ४७.३-४, वा०सं०, १.६-१३, वा०का०सं०, १.३-४, श०ब्रा०, १.१.२-३, का०श०ब्रा०, २.१.२-३, तै०ब्रा०, ३.२.४-५, वैखा०श्रौ०, १५.३-६, ४.३-६, बौधा०श्रौ०, १.४-६, ३.१५, २०.२, ५, ६, २४, २५, २८.१३, भा०श्रौ०, १.१९-२०, ३.१६, ४.६, आप०श्रौ०, १.१७-१९, ३.१९.४.४, सत्या०श्रौ०, १.५.२८, ६.१, मान०श्रौ०, १.२.१.२, १.४.१, वारा०श्रौ०, १२.४, १.१.२, १.१.५, कात्या०श्रौ०, २.२-३, आश्व०श्रौ०, १०.१२

५९. मै०सं०, १.१.५, तै०ब्रा०, ३, ''ओं चित्ति स्रुकचित्तमाज्यम्।'' तु०ऐ०ब्रा०, २४.७

६०. तै०सं०, १.१.४, मै०सं०, १.१.५, वा०सं०, १.७, वैखा०श्रौ०, १५.४.४.४, आप०श्रौ०, १.१८.१, भा०श्रौ० १.१९.४-११, कात्या०श्रौ०, २.३.२१, जै०, ९.१.३६-३९, हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०२४, पाटि०, २३०६

६१. वैखा०श्रौ०, १५.५, ४.५, मान०श्रौ०, १.२.१.२३, भा०श्रौ०, १.१९.१४

६२. मै०सं०, १.१.५, तै०ब्रा०, २.३.४, वैखा०श्रौ०, १५.६, ४.६, भा०श्रौ०, १.२०.१-८, हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०२५, एवं पाटि० २३०६

६३. वैखा०श्रौ०, १५.६, ४.६, मान०श्रौ०, १.२.२.२, भा०श्रौ०, १.२०.९-१५, कात्या०श्रौ०, २.३.४०, एवं उसकी व्याख्या। जै०, ९.१.२-३

६४. तै०सं०, १.१.५, १.१.६-७, १.६.८, मै०सं०, १.१.६-८, ४.१.६-८, १.४.१० का०सं०, १.५-७, ३१.४-६, कपि०सं०, १.५-७, २७.४-६, वा०सं०, १.१४-२०, वा०का०सं०, १.५-७, श०ब्रा०, १.१.४, का०श०ब्रा०, २.१.३-४,

तै०ब्रा०, ३.७.६, १.५.१०, ३.२.५-७, वैखा०श्रौ०, १५.६.९, ४.६-९, तु बौधा०श्रौ०, १.६.८, ३.१५, २०.६-८, २४.२५-२६, १८.१३, भा०श्रौ०, १.२१-२४, आप०श्रौ०, १.१९-२३, सत्या०श्रौ०, १.४-६ मान०श्रौ०, १.२. २-३, वारा०श्रौ०, १.२.४-१.३.१, कात्या०श्रौ०, २.४-५, ४.२.३७-३८

६५. पी०वी० काणे, हि०ध०शा०, २२, पृ० १०२६, पाटि० २३०८

६६. श०ब्रा०, १.१.४-५, वैखा०श्रौ०, १५.६, ४.६, भा०श्रौ०, १.२१.१-३, आप०श्रौ०, १.१९.५, सत्या०श्रौ०,. १.५

६७. श०ब्रा०, १.१.४-१२, तै०ब्रा०, ३.२.५, वैखा०श्रौ०, १५.६, ४.६, भा०श्रौ०, १.२१.४.६, मान०श्रौ०, २.५.५, आप०श्रौ०, १.१९.९-१०, कात्या०श्रौ०, २. ४.१३-१४, सत्या०श्रौ०, १.५, जै०, ३.२.५-९, हि०ध०शा०, २.२ पृ० १०२७, पाटि० २३११

६८. मा०सं०, १

६९. वैखा०श्रौ०, १५.७, ४.७, भा०श्रौ०, १.२१-८.१०, आप०श्रौ०, १.२०.४

७०. अवहनन कर्त्ता।

७१. द्र० सत्या०श्रौ०, १.५ (व्याख्या) फलीकरणं तण्डुलेभ्यः कणानां वियोगकरणम्।

७२. वैखा०श्रौ०, १५.७, ४.७, भा०श्रौ०, १.२२.६-११, आप०श्रौ०, १.२०.११-१३, सत्या०श्रौ०, १.५, हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०२९, पाटि० २३१३

७३. वैखा०श्रौ०, १५.८, ४.८, भा०श्रौ०, १.२२.१३-१.२३.४

७४. तै०सं०, १.१.६, वा०सं०, १.२०, वैखा०श्रौ०, १५.८, ४.८, भा०श्रौ०, १.२३. ५.७

७५. वैखा०श्रौ०, १५.८, ४.८, मान०श्रौ०, २.२.२५, भा०श्रौ०, १.२३.८-१.२४.१, आप०श्रौ०, १.२१.८-९

७६. वही, सत्या०श्रौ०, १.५-६, तु आप०श्रौ० १.२३-२४.भा०श्रौ०१.२४.१०

७७. तै०सं०, १.१.७, वैखा०श्रौ०, १५.८-९, ४.८-९, सत्या०श्रौ०, १.६, आप०श्रौ०, १.२२-२३, भा०श्रौ०, १.२४.२-९, कात्या०श्रौ०, २.४.२७-३७, एगलिंग से बु०ई० १२, पृ० ३४ की टिप्पणी।

७८. वैखा०श्रौ०, १५.८, ४.८, सत्या०श्रौ०, १.६, पृ० १३३, आप०श्रौ०, १.२२. २, भा०श्रौ०, १.२४.२-३

७९. वैखा०श्रौ०, १५.९, ४.९, मान०श्रौ०, २.२.३४, भा०श्रौ०, १.२४.६-८

८०. तै०सं०, १.१.८, २.६.३, मै०सं०, १.१.९, ४.१.९, १.४.६, का०सं०, १.८,३१. ७, कपि०सं०, १.८, ४७-७, वा०सं०, १.२१-२३, वा०का०सं०, १.८, अ०सं०, ११.१.१६.८, ७.७४.१, अपै०सं०, १६.८.२, १६.९०.६-८, १९.२७. ३, श०ब्रा०, १.२.२-३, १.७.३, २६-२७, का०श०ब्रा०, २.२.१, २.७.१, तै०ब्रा०, ३.२.८, वैखा०श्रौ०, १५.९-१०, ४.९-१०, तु०बौधा०श्रौ०, १.९-१०, २०.८, २४.२६-२७, २८.१३, भा०श्रौ०, १.२४-२६, आप०श्रौ०, १.२४-२५,

सत्या०श्रौ०, १.६, मान०श्रौ०, १.२.३-४, वारा०श्रौ०, १.३.१, कात्या०श्रौ०, २. ५

८१. तै०ब्रा०, ३.२.८, ''यथादैवमैवैनानि संवपति।'' वैखा०श्रौ०, १५.९, ४.९, आप०श्रौ०, १.२४.१, भा०श्रौ०, १.२४.११, कात्या०श्रौ०, २.३.४९

८२. तै०सं०, १.१.८.१, हाग-ऐ०ब्रा० का अनुवाद, पृ० ३, टि० ३, वैखा०श्रौ०, १५.९-१०, ४.९-१०, भा०श्रौ०, १.२५-१-६

८३. वैखा०श्रौ०, १५.१०, ४.१०, आप०श्रौ०, १.२५.४, ''अतुंगमनपूपाकृतिमश्व शफमात्रंकूर्मस्यप्रतिकृति करोति।'' सत्या०श्रौ०, १.६, पृ० १६१, मान०श्रौ०, १.२.६.२

८४. मन्त्र के लिए, द्र०तै०सं०, १.१.८.१, ''एकत् द्वित् और त्रित् इन आप्य देवों के सम्बद्ध में द्र०तै०ब्रा०, ३.२.८, ऋ०सं०, १.१०५.९, ८.१२.१९, त्रित् को ऋ०सं०, ९.१०.२ एवं १०.१.७, का द्रष्टा कहा गया है। वैखा०श्रौ०, १५. १०, ४.१०, भा०श्रौ०, १.२६.१०, आप०श्रौ०, १.२५.१४

८५. तै०सं०, १.१.९, २.६.४, मै०सं० १.१.१०, ४.१.१०, १३, का०सं०, १.९, ३१. ८, कपि०सं०, १.९, ४.७.८, वा०सं०, १.२४-२८, वा०का०सं०, १.९, श०ब्रा०, १.२४-५, का०श०ब्रा०, २.२.२-३, तै०ब्रा०, ३.७.६, ३.७.७, १३, ३.२.९-१०, ३.३.९, वैखा०श्रौ०, १५.११-१६.२, ४.११.५.२, तु०बौधा०श्रौ०, १.१०-११, ३.२३, २०.९, २४.२३-२४, भा०श्रौ०, २.१-४, ३.१६, ४.६-७, आप०श्रौ०, २.१-३, ३.१९, ४.५, सत्या०श्रौ०, १.६.२.८, ६.२, मान०श्रौ०, १.२.४, १. ४.१, ५.२.१५, वारा०श्रौ०, १.३.१-२, १.१.१, ५, कात्या०श्रौ०, २.२.६, आश्व०श्रौ०, १.१२, शाङ्खा०श्रौ०, ४.७, वैता०श्रौ०, २.४.५

८६. सत्या०श्रौ०, १.६, पृ० १४५ की व्याख्या

८७. कात्या०श्रौ०, २.६.२-१०

८८. तै०सं०, २.६.४, ३.२.९, श०ब्रा०, १.२.५-२०, जै०, ५.१.२९, आप०श्रौ०, २. ३.२

८९. तै०ब्रा०, ३.७.६, ३.३.९, वैखा०श्रौ०, १५.११, ४.११, सत्या०श्रौ०, १.६, पृ० १४५-१४६, आप०श्रौ०, २.१.३-४, भा०श्रौ०, २.१.१-४

९०. श्रौ०प०नि०, पृ० ४०

९१. द्र०सत्या०श्रौ०, १.६, पृ० १४८, व्याख्या–''उत्किरति अस्मिन्सतृणं पांशुमित्युत्करः।'' आप०श्रौ०, २.१.६-७

९२. आप०श्रौ०, २१.४ (व्याख्या) ''स्तम्बयजुरिति सतृणाः पांसवो, भिधीयन्ते तद्योगात्कर्म च क्वचित्।'' पी०वी० काणे, हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०३४, पाटि० २.३२८, "It is called स्तम्बयजुः because the stalk of darbha is out after reciting a yajns farmula."

९३. कात्या०श्रौ०, २.६.२५, (व्याख्या) ''परिगृहणाति परिसमन्तात्स्पयेन रेखा करणादिना

इयती वेदिरितिज्ञापनार्थ परिगृहणाति।'' हि०ध०शा० २.२, पृ० १०३६, टि० २३३३, परिग्रहण "Means draubing lines with the sphya raund– The vedi in order to indicate the extent of the vedi."

९४. वैखा०श्रौ०, १५.१२, ४.१२, भा०श्रौ०, २.२'.११-१२, प्राँचौ वैद्यंसावुन्नयत्यमित आहवनीयं प्रतीची श्रौणी अभितौ गार्हपत्यम्। मध्ये संनता करोति।''

९५. वैखा०श्रौ०, १६.१, ५.१, भा०श्रौ०, २.३.८.९, तै०सं०, १.१.९

९६. वैखा०श्रौ०, १६.२, ५.२, भा०श्रौ०, २.३.११, वेदि अभिमन्त्रण हेतु मन्त्र के लिए द्र०तै०सं०, १.१.९, प्रैष के लिए द्र०तै०ब्रा०, ३.२.९, सत्या०श्रौ० १.६, पृ० १५३, कात्या०श्रौ०, २.६.३६-३७, आप०श्रौ०, २.३.११, जै० १.४.१०-११

९७. कात्या०श्रौ०, २.६.४.३

९८. वैखा०श्रौ० १६.२, ५.२, भा०श्रौ०, २.३.१९-२.४.१

९९. तै०सं०, १.१.१०, १.६.१, मै०सं०, १.१.११, १.४.४, ४.१.१२, १.४.९, का०सं०, १.१०, ५.९, ३१.९, कपि०सं०, १.१०, ५.९, ३१.९, कपि०सं०, १.१०, ४७.९, वा०सं०, १.२९-३१, वा०का०सं०, १.१०, श०ब्रा०, १.३.१-२, का०श०ब्रा०, २.२.४-२.३.१, तै०ब्रा०, ३.३.१-५, अ०सं०, १४.१.४२, ७.८७.६, वैखा०श्रौ० १६.२-४, ५.२-४, बौधा०श्रौ०, १.१२, ३.१६, २०.१०, २४.२७, भा०श्रौ०, २.४-७, आप०श्रौ०, २.३-७, ४.५, सत्या०श्रौ०, १.७, ६.२, मान०श्रौ०, १.२.५, १.४.१, वारा०श्रौ०, १.३.२, १.१.२, कात्या०श्रौ०, २.६-७, शाङ्खा०श्रौ०, ४.८.१-२, वैता०श्रौ०, २.६-७

१००. मन्त्रों के लिए द्र० तै०सं०, १.१.१०, वैखा०श्रौ०, १६.२, ५.२, भा०श्रौ०, २.४.२-११, सत्या०श्रौ०, १.७, पृ० १५८

१०१. द्र०हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०३९, पाटि० २३३९, प्राशित्र।

१०२. वैखा०श्रौ०, १६.२, ५.२, ''पूर्ववत् स्रुचः प्राशित्र हरणं च निष्टपयोत्तरतो वेदि श्रोण्यां निदधाति।'' आप०श्रौ०, २.४.१०

१०३. सत्या०श्रौ०, १.७, पृ० १५८

१०४. वैखा०श्रौ०, १६.३, ५.३, ''प्रोक्षितानि स्रुकसम्मार्जनान्यग्नौप्रहरति।'' मान०श्रौ० २.५.२, भा०श्रौ०, २.५.१-२, एवं आप०श्रौ, २.५.१ के अनुसार अग्नि अथवा उत्कर पर प्रहरण करने का विकल्प है जबकि कात्या०श्रौ०, २.६.५० उत्कर पर ही प्रहरण का विधान करता है।

१०५. तै०ब्रा०, ३.३.३, द्र०हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०४०, पाटि० २३४१

१०६. वैखा०श्रौ०, १६.३, ५.३, भा०श्रौ०, २.५.३-४, सत्या०श्रौ०, १.७, पृ० १६०, आप०श्रौ०, २.५.६, हि०ध०शा०, २.२, टि० २३४१, A kant that can be unloosend by unturising. आप०श्रौ०, २.५.६, हि०ध०शा०, २.२, टि० २३४१, पृ० १०४० In madern practic the wife girds up her waist with the yaktra her self.

१०७. द्र०हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०४१, पाटि० २३४२, The region of the wrives of the gods is to the west of the garhpaty.

१०८. मन्त्रों के लिए दे०तै०सं०, १.१.१०, १.२, ऋ०सं०, १०. १५९.३, वैखा०श्रौ०, १६.३, ५.३, भा०श्रौ०, २.५.५-१०, सत्या०श्रौ०, १.७, पृ० १६१

१०९. वैखा०श्रौ०, १६.३, ५.३, भा०श्रौ०, २.५.५-११-२.६.१, सत्या०श्रौ०, १.७, पृ० १६१-१६२, आप०श्रौ०, २.६.१ (व्याख्या) के अनुसार गो घृत के अभाव में भैंस अथवा अजा के घृत का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु मन्त्र में अह नहीं करना चाहिए।

११०. तै०सं०, १.१.१०.३, वैखा०श्रौ०, १६.३, ५.३, भा०श्रौ०, २.६.७-१०

१११. तै०सं०, १.१०३, वैखा०श्रौ०, १६.४, ५.४, भा०श्रौ०, २.६.१२-१३, सत्या०श्रौ०, १.७, पृ० १६५, मान०श्रौ०, २.५.१८

११२. तै०सं०, १.१०-३, १.६.१.२-३, वैखा०श्रौ०, १६.४-५, ५.४, भा०श्रौ०, २. ७.१-११, आप०श्रौ०, १.७.१६५-१६७, आप०श्रौ०, २.७.४-७

११३. वैखा०श्रौ०, १९.५, ८.५, सत्या०श्रौ०, २.५.१.४५१, ५, भा०श्रौ०, ८.२.६-१२

११४. सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५२ "उद्वासन प्रभृतीनि कर्माणि प्रतिपद्यते।"

११५. मान०श्रौ०, १.७.३५, प्रागभिधारणादामिक्षां विवाजिनां कृत्वोत्करे वाजिनमासादयति, कात्या०श्रौ० ५.१, पृ० ४३३, "उत्करे वाजिनस्यासादनम् अलम्भश्च।"

११६. वैखा०श्रौ०, १९.५, ८.५, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५२, भा०श्रौ०, ८.२. १४-१५, आप०श्रौ०, ८.२.१०-१२, बौधा०श्रौ०, ५.२, पृ० १३०, श्रौ०प०नि०, ८०.४६५

११७. सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५२, "व्याहृतिभिर्हर्वीष्यासादयति...। भा०श्रौ०,८.२. १६-१८, मान०श्रौ, १.७.३६, बौधा०श्रौ०, ५.२, पृ० १३०

११८. मान०श्रौ०, १.७.४८, "पूर्णस्रुवंसादयत्वा पञ्चहोत्राचातुर्मास्यान्यभिमर्शयति"

११९. का०सं०, ३६.१-४, "अग्निं मन्थति।" श०ब्रा०, २.५.१.१९, "आसाद्यहवी ष्यग्निं मन्थति।" का०श०ब्रा०, १.६.४, "अथ यदग्निर्मथ्यते।" तै०ब्रा०, १. ६.३, शाङ्खा०ब्रा०, ५.१-२, गो०ब्रा०, २.१.१९-२०, वैखा०श्रौ०, १९.५, ६, ८.५-६, बौधा०श्रौ०, ५.२, पृ० १३०, कात्या०श्रौ०, ५.२.१-५, भा०श्रौ०, ८. २.१९-२०, हि०श्रौ०, ४.३, श्रौ०प०नि०, ५९.३९४,

१२०. श०ब्रा०, २.५.१.१९, अग्नि हवैयायमानमनुप्रजापते: प्रजाजज्ञिरेतभो एकै तस्यग्निमेव-जायमानमनु प्रजाजायन्ते तस्मादासाद्य हवीष्यग्निंमन्थन्ति।"

१२१. तै०सं०, २.५.७.२, श०ब्रा०, १.३.२, तै०ब्रा०, ३.५.१-४, ३.५.२-१, ६.३.५. ९, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५२, आप०श्रौ०, २.१२.१, पा०सू० ८.२.११

१२२. श०ब्रा०, १.३.५.१, "इन्धे ह वा एतदध्वर्यु रिध्मेनाग्निं तस्मादिध्मोनाम। समिन्धे सामिधेनीभिर्होता तस्मात् सामिधेन्या नाम।" आप०श्रौ० १.२.३, "अग्ने: समिन्धनार्था ऋच: सामिधेन्य:।" हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०४८, पाटि०

२३५३, वै०को०, पृ० ३९४, श्रौ०प०नि०प०, १८५, पृ० २२

१२३. का०श०ब्रा०, १.६.४, "अथ सप्तदश सामिधेन्य:।" शाङ्खा०ब्रा०, ५.१-२, गो०ब्रा० २.१.१९-२०, ऐ०ब्रा०, १.१.१, पृ० २०, भा०श्रौ०, ८.२.२०, श्रौ०प०नि० ८१.४.६७

१२४. तै०सं०, २.५.८.२, "पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह।"

१२५. श०ब्रा०, १.३.२.१३, वैखा०श्रौ०, ९.१.३३

१२६. ऋ०, ३.२७

१२७. वही, ६.१६.१०

१२८. वही, ६.१६.११

१२९. वही, ६.१६.१२

१३०. वही, ३.२७.१३

१३१. वही ३.२७.१४

१३२. वही, ३.२७.१५

१३३. वही, १.१२.१

१३४. वही, ३.२७.४

१३५. वही, ५.२८.५

१३६. वही, ५.२८.६

१३७. वही ३.२७.५,

१३८. वही, ३.२७.६

१३९. आप०श्रौ०, २.१२.२, य०प०सू०, ११३.११४

१४०. मान०श्रौ०, १.३.१.१

१४१. श्रौ०प०नि०, इष्टि प्रकरण १८५, वै०को०, पृ० ३९४

१४२. तै०सं०, २.५.७-११, अ०सं०, ४.२३.१, अपै०सं०, ४.३३.१, ऋ०सं०, १०.५३.२४, ३.२७.१, ४, १३, १४, ६.१६.१०-१२, ५.२८, ५-७, श०ब्रा०, १.३.५-१, ४.३, १-५, १-२, ११.२१, का०श०ब्रा०, २.३.३-४, २.४.१, ३.४, शाङ्खा०ब्रा०, ३.२.३, तै०ब्रा०, ३.५.१-४, गौ०ब्रा०, १.३९, बौधा०श्रौ०, ३.२७-२८, २४.२८, ३.१७, आप०श्रौ०, २४.११.१३, सत्या०श्रौ०, २१.१-२, आश्व०श्रौ०, १, १-४, शाङ्खा०श्रौ०, १.४-६

१४३. मान०श्रौ०, १.३.१-२, श्रौ०प०नि०, पृ० ३०, प० २४.७

१४४. श्रौ०प०नि०, ३६, ३००

१४५. ऐ०ब्रा०, २.१८

१४६. तै०सं०, २.६.१-२, १.६.११, १.६.२, मै०सं०, १.४.१.२-१३, का०सं०, ४.१४.५, १.३१.१५, अ०सं०, ६.५५.२.६.६१.३, अप०सं०, १.१०६.३, श०ब्रा०, १.५.३.४, १.६.१, १.६.३, ११.४.२, ११.२.७.११, का०श०ब्रा०, २.५.१-३.२.६.१, १३.२.१.१०, ऐ०ब्रा०, ७.१२, गो०ब्रा०, १.३.७.१०, वैखा०श्रौ०, १७.

६.८, ६.६.८, तु०बौधा०श्रौ०, १.१६, ३.१८, २०.१३, भा०श्रौ०, २.१८-१७, ४.१३-१४, आप०श्रौ०, २.१७-१८, ४.९, सत्या०श्रौ०, २.२, ६.३, मान०श्रौ०, १.३.२, १.४.१-२, वारा०श्रौ०, १.३.४, १.१२.३, कात्या०श्रौ०, २.१६.१७, श्रौ०प०नि०, पृ० ३०, प० २४७

१४७. य०त०प्र०, पृ० २५, जै०सू०, ५.१.४-७, ऐ.ब्रा०, ७.३, निरुक्त, ८.२२

१४८. तै०सं०, २.६.१, सत्या०श्रौ०, २.१.१९८, जै०सू०, ९.२.५९-६०

१४९. वारा०श्रौ०, १.३४.२३

१५०. आप०श्रौ०, २.१७.२, भा०श्रौ०, २.१६.७, मान०श्रौ०, १.३.२.२, सत्या०श्रौ०, २.२, १०९, वारा०श्रौ०, १.३.४.२४

१५१. मै०सं०, ४.१०.३, का०सं०, २.१५, श०ब्रा०, २.५.१.२०, ''नव प्रयाजं भवति।'' का०श०ब्रा०, १.६.४, शाङ्खा०ब्रा०, ५.१-१२, गो०ब्रा०, २.१.१९-२०, तै०ब्रा०, १.६.३, सत्या०श्रौ०, २.५.१, ४५२, भा०श्रौ०, ८.२.२२, बौधा०श्रौ० ५.३, पृ० १३१, कात्या०श्रौ०, ५.२.६, मान०श्रौ०, १.७.२.२, श्रौ०प०नि०, ७८.४६१

१५२. श०ब्रा०, ३.८.१४, वैखा०श्रौ०, १९.५-६, ८.५.६, कात्या०श्रौ०, ५.२.६ (एवं व्याख्या) सत्या०श्रौ०, २.५.४५२, ''चतुर्थे समानीयाष्टमे सर्वं समानयते।'' भा०श्रौ०, ८.२.२३, आश्व०श्रौ०, २.१६.९-१२, ध०शा०पी०वी० काणे, २.२, पाटि० २२६८ एवं २३६९, बौधा०श्रौ०, ५.३, पृ० १३१

१५३. भा०श्रौ०, ८.३.१-२, ''पौष्णाँहुतमनुमन्त्रयते पूष्णो हं देवयाज्यया पुष्टिमानपशुमान् भूयासम् इति। एवमेव सर्वान् पौष्णाननुमन्त्रयते।''

१५४. कपि०सं०, ८.७, ''तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा।'' का०सं०, ९.४, श०ब्रा०, २.५.१-२१, कौषी०ब्रा०, ५.१.१-३, २.२१, शाङ्खा०ब्रा०, ५.१-२, का०श०ब्रा०, १.६.४, भा०श्रौ०, ८.३.९, ''प्रथमजो वत्सो दक्षिणा।'' मान०श्रौ०, १.७.२.८, बौधा०श्रौ०, ५.४, पृ० १३१, वैखा०श्रौ०, १९.६, ८.६, आप०श्रौ०, ८.२.१९

१५५. मै०सं० १.१०.५-९, ''नवाऽनुयाजा'' कपि०सं०, ८.७, का०सं०, ९.४, श० ब्रा०, २.५.१, सत्या०श्रौ०, २.५.१, गो०ब्रा०, २.१.१९-२०, तै०ब्रा०, १.६.२-३, कात्या०श्रौ०, ५.१.६, पृ० ४३४, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३, भा०श्रौ०, ८.३.१०, मान०श्रौ०, १.७.२.१०, बौधा०श्रौ०, ५.४, पृ० १३१, वैखा०श्रौ०, १९.६, ८.६, आश्व०श्रौ०, २.१६.१२, श्रौ०प०नि०, पृ० ७८, प० ४६१

१५६. दर्शपूर्णमास याग की भाँति, तै०ब्रा०, १.४.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३, ''संवत्सरीणाँ स्वस्तिमाशास्ते दिव्यं धामा शास्ते इति सूक्त वाक्सया शीष्णु होता नुवर्तयति।'' भा०श्रौ०, ८.३.११, पृ० १०३

१५७. मै०सं०, १.१०.९,''संस्थिते प्रहृतेषु परिधषु जुहोति।'' का०सं०, ३६.४, तै०ब्रा०, ३.५.१०, तै०ब्रा०, १.६.३, वैखा०श्रौ०, १९.६, ८.६, भा०श्रौ०, ८.३.११-१२, पृ० १०३, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३, बौधा०श्रौ०, ५.४,

पृ० १३२

१५८. तै०सं०, १.६.२, २.६.६, २.५.३, का०सं०, ५.१-२, ३.२.१, अ०सं०, १.९. ३.५.७.६, १७.१.१८, ६.५४.२, अपै०सं०, १.१९.३, ७.९.८, १८.३२.२, १९. ८.५, १९.४७.६, श०ब्रा०, १.६.१-४, १.७.२-३, ११.४.२.१६-२०, ११.१.२, का०श०ब्रा०, २.५.३-३, ६.२, ४.२.७.१, १३.४.२, १३-१५, तै०ब्रा०, ३.७. ५, गो०ब्रा०, १.३.७-१०, वैखा०श्रौ०, १७.८.१०, ६.८-१०, तु०बौधा०श्रौ०, १.१६-१७, ३.१८, १७४७, २०.१३, २४.२८, २७.१२, भा०श्रौ०, २.१७-१९, ४.१४, आप०श्रौ०, २.१८-२०, ४.९, सत्या०श्रौ०, २.२, ६.३, मान०श्रौ०, १. ३.२, १.४.२, वारा०श्रौ०, १.३.४, १.१.३, कात्या०श्रौ०, ३.३, वैता०श्रौ०, ३.१-६

१५९. तै०ब्रा०, ३.७.५, वैखा०श्रौ०, १७.८, ६.८, आप०श्रौ०, २.१८.९, सत्या०श्रौ०, २.२, पृ० १९४, बौधा०श्रौ०, १.१६

१६०. वैखा०श्रौ०, १७.८, ६.८, सत्या०श्रौ०, २.२ पृ० १९१, आप०श्रौ०, २.१८.९

१६१. तै०सं०, २.६.२, मै०सं०, १.५.१२, का०सं०, ३२.१, अनुवाक्या, द्र० ऋ०सं०, ८.४४.१६, वा०सं०, ३.१२, याज्या द्र०ऋ०, १०.८.६, वा०सं०, १५.२३, तै०ब्रा०, ३.५.७ श०ब्रा०, १.७.२-३, १.६.२, ११.२.२, का०श०ब्रा०, २.६. ४, २.७.१, २.५.४, शाङ्खा०ब्रा०, ३.६, गो०ब्रा०, १.३.९, द्र० सत्या०श्रौ०, २१.२, काहोपरि० १, आश्व०श्रौ० १.६, शाङ्खा०श्रौ०, १.८-९

१६२. वैखा०श्रौ०, १७.८, ६.८, आप०श्रौ०, २.१९.७-९, सत्या०श्रौ०, २.२.१९५-१९६

१६३. वैखा०श्रौ०, १७.९, ६.९, ''आज्यहविष्केणोपांशुयाजेन यजते।'' सत्या०श्रौ०, २. २.२०२, कात्या०श्रौ०, ३.३.२३, मान०श्रौ०, ३.२.१७, जै०, १०.८.४७-५०, आप०श्रौ०, १.१९-१२, एवं १०.८.५१-६१, के अनुसार अग्नीषोमो देवताक आहुति केवल पौर्णमासी को दी जाती है। प्रजापति देवताक याज्यानुवाक्या के लिए द्र०ऋ०, १०.१२१.१०, एवं तै०ब्रा०, २.८.१ तथा अग्नीषोमो देवताक याज्यानुवाक्या के लिए द्र०ऋ०सं०, १.९३.२, ६, काहोपरि० १.११, आश्व०श्रौ०, १.६.१, शां०श्रौ०, १.८

१६४. वैखा०श्रौ०, १७.९.६.९, सत्या०श्रौ०, २.२.२०२-२०३, पी०वी काणे हि०ध०शा०, २.२, पृ० १०६२

१६५. वैखा०श्रौ०, १७.९, ६.९, सत्या०श्रौ०, २.२.२०३, अग्नीषोमीय देवताक याज्यानुवाक्या के लिए द्र० ऋ०सं०, १.९३.९, ५, एवं इन्द्राग्नी देवताक याज्यानुवाक्या के लिए द्र०ऋ०सं०, ७.९४.७ एवं ७.९३.४, आश्व०श्रौ०, १.६.१, शाङ्खा०श्रौ०, १.८

१६६. वैखा०श्रौ०, १७.९.६.९, इन्द्र देवताक याज्यानुवाक्या के लिए द्र०ऋ०सं०, १. ८.१ एवं १०.१८.१.१, तथा महेन्द्र देवताक याज्यानुवाक्या के लिए द्र० ऋ०सं०, ८.६.१ एवं १०.५०.४, आश्व०श्रौ०, १.६.१, शांख०श्रौ०, १.८

१६७. तै०ब्रा०, ३.७.५, जै०, ९.२.५१-५८, वैखा०श्रौ०, १७.९, ६.९, सत्या०श्रौ०, २.५.२३०, आप०श्रौ०, ३.१०.२

१६८. वैखा०श्रौ०, १७.१०, ६.१०, ''षड्भि: प्रतिमन्त्रंनारिष्ठहोमान जुहोति।'' सत्या०श्रौ०, २.५.२३१, आप०श्रौ०, २.२०.६ एवं २.२१.१, तै०ब्रा०, ३.७.५.१२, ३.७.११.१

१६९. मै०सं०, १.१०.५, ''सविता प्रासुवत्...उपांशु यजति।'' द्र० का०सं०, ३५.२० वा छेश्वर-''उपांशु यजतीत्येव सिद्धे सर्वत्रेति वचनमुक्तरीत्या सर्वप्रयोगे षुपांशुत्व प्राप्त्यर्थम्।'' मान०श्रौ०, १.७.२.५, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५२, बौ०श्रौ०, ५.३, पृ० ३१, भा०श्रौ०, ८.२.२६

१७०. भा०श्रौ०, १.४.१४, पृ० १०३, ''आमिक्षया प्रचर्यैककपालं बर्हिषदं कृत्वा जुह्वामुपस्तीर्य सर्वमेककपालमवद्यति।''

१७१. तै०सं०, १.४.१४, ''मधुश्च, माधवश्च, शुक्रश्च शुचिश्च।'' मै०सं०, १.३.१६, द्र० का०सं०, ४.७, वा०सं०, ३.३०, मै०सं०, १.१०.८, ''वैश्वदेवेन चतुरो मासो युक्त।'' तै०ब्रा०, १.६.३, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३, भा०श्रौ०, ८.३.७, मान०श्रौ०, १.७.२.७

१७२. वैखा०श्रौ०, १९.७, ८.७, भा०श्रौ०, ८.३.३३-१६, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३-४५४, जै०, ८.२.१, ९, २.२.२३

१७३. मै०सं०, १.१०.९, द्र० का०सं०, ३६.४, तै०ब्रा०, १.६.३, भा०श्रौ०, ८.३.१३-१६, पृ० १०३, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३-४५४, बौधा०श्रौ०, ५.४, पृ० १३२, मान०श्रौ०, १.७.२.१३, वैखा०श्रौ०, १९.६, ८.६, जै० ८.२.१-९, २.२.२३, श्रौ०प०नि०, पृ० ८१ प० ४६८

१७४. श०ब्रा०, २.४.४.२२, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३ मान०श्रौ०, १.७.२.१५

१७५. सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५३, ''पूरयित्वा नाभिधारयति।'' भा०श्रौ०, ८.३.१४, पृ० १०४

१७६. का०सं०, ३६.४, ''सर्वेऋत्विजा: प्राश्नन्ति।'' तै०ब्रा०, १.६.३, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५४, भा०श्रौ०, ८.४.४, पृ० १०४, मान०श्रौ०, १.७.२.१८, बौधा०श्रौ०, ५.४, पृ० १३२, आश्व०श्रौ०, २.१६.१८-१९, वैखा०श्रौ०, १९.६, ८.६

१७७. मान०श्रौ०, १.७.२.१८, ''इत्यृत्विज: प्राश्नन्ति यजमानश्च। होता प्रथमो भक्षयते।'' भा०श्रौ०, ८.४.४, पृ० १०४

१७८. तै०ब्रा०, १.६.३, श०ब्रा०, २.४.४.२५, ''प्रथमो यजमानो भक्षयति...अप्युत्तम:।''

१७९. दर्शपूर्णमास याग की भाँति।

१८०. वा०सं०, ८.२१, २२, वैखा०श्रौ,० १८.८, ८.८, ''पशुवत्समिष्टयजूंषि।'' कात्या०श्रौ०, ५.२.९-१२, भा०श्रौ०, ८.४.१०, पृ० १०४, बौ०धा०, ५.४, पृ० १३२, मान०श्रौ०, १.७.२.२०

१८१. तै०ब्रा०, १.५.५.१, २, वैखा०श्रौ०, १८.८., ८.८, भा०श्रौ०, ८.४.१२-१७, सत्या०श्रौ०, २.५.१, पृ० ४५४-४५५, आप०श्रौ०, ८.४.१०, ११, बौधा०श्रौ०, २८.१०, कात्या०श्रौ०, ५.२.१३, आश्व०श्रौ०, २.१६.२२-२७

१८२. आश्व०श्रौ०, २.१६.२२-२७, ''केशान्विवर्तयीत। श्मश्रूणि वापयीत्। अधः शयीत्। मधुमांसलवणस्त्रैयवलेखनानिवर्जयेत्।''

१८३. आश्व०श्रौ०, २.१६.२२-२७, ''पौर्णमासैनेष्टवा चातुर्मास्यव्रतान्युपेयात्।''

चतुर्थ अध्याय

वरुणप्रघास पर्व

यह चातुर्मास्य यज्ञ का द्वितीय पर्व है। शतपथकार के अनुसार इसे वरुणप्रघास अभिधान इसलिए प्राप्त है कि यव अन्न, जो कि वरुण के निमित्त प्रयुक्त होता है, इस कृत्य में खाया जाता है।[1] वरुणप्रघास शब्द पुल्लिंग है, जिसका प्रयोग सर्वदा बहुवचन में किया जाता है।[2] ज्ञातव्य है कि वरुणप्रघास में वरुण और प्रघास दो शब्द हैं, जिसमें वरुण शब्द देवता वाची है तथा प्र उपसर्ग पूर्वक घस् धातु के संयोग से निर्मित प्रघास का अभिप्राय भक्षण करना है।[3] सर मोनियर विलियम के अनुसार घास शब्द चरागाह का द्योतक है[4] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसका अर्थ शमी की पत्तियाँ किया गया है।[5] क्योंकि शमी की पत्तियों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ करता था। इस पर्व का अनुष्ठान यजमान द्वारा अपने घर से बाहर ऐसे स्थान पर कराये जाने का उल्लेख है, जहाँ पर पर्याप्त मात्रा में पौधे उगे हों।[6] वरुणप्रघास पर्व की याज्ञिक क्रियाएँ बहुधा वैश्वदेव याग के समान ही हैं।[7] क्योंकि इस पर्व का प्रकृति याग वैश्वदेव पर्व ही है।

अनुष्ठान काल

सम्पूर्ण श्रौत साहित्य में वैश्वदेव पर्व के अनुष्ठान के प्रारम्भ होने के चार मास बाद इस पर्व का अनुष्ठान काल विहित किया गया है।[8] इसके अनुष्ठान के निमित्त उपयुक्त ऋतु के रूप में वर्षा ऋतु को ही मान्यता प्राप्त है।[9] शतपथकार के अनुसार ''प्रजा वरुण के जाल से बची रहे, क्योंकि देवों ने यह यज्ञ करके उत्पन्न हो चुकी एवं उत्पन्न होने वाली दोनों सन्तानों को वरुण के जाल से मुक्त कर लिया

था तथा इस याग के फलस्वरूप उनकी सन्तानें निर्दोष और निरोग होने लगीं। इसीलिए वरुणप्रघास पर्व का अनुष्ठान चौथे मास में किया जाता है।[१०] वरुणप्रघास यागानुष्ठान के सम्पादनार्थ मास एवं तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में दो मत पाये जाते हैं। विद्वानों के एक वर्ग ने इस पर्व के अनुष्ठान हेतु आषाढ़ मास की प्रतिपदा तिथि का निर्विकल्पक निश्चयन किया है,[११] जबकि विद्वानों का अपर सम्प्रदाय इसका अनुष्ठान सविकल्प आषाढ़ एवं श्रावण मास की प्रतिपदा तिथि को विहित करता है।[१२]

आचार्य कात्यायन का मत है कि यदि वैश्वदेव याग चैत्र की पूर्णिमा को अनुष्ठित हो तो वरुणप्रघास याग श्रावण मास की पूर्णिमा को अनुष्ठेय होगा।[१३] ध्यातव्य है कि आचार्य कात्यायन का निर्देश वैश्वदेव पर्व के अनुष्ठान काल के पूर्वापर होने की स्थिति में प्रस्तुत है, जो वैश्वदेव एवं वरुणप्रघास के चार मास वाले कालान्तराल की अनिवार्यता को सिद्ध करता है।

देवता एवं द्रव्य

वैश्वदेव याग की भाँति इस याग में भी सर्वप्रथम पञ्च सञ्चरों का सम्पादन करणीय है,[१४] जिनके देवता एवं द्रव्य अग्रलिखित हैं–

देवता	द्रव्य
१. अग्नि	अष्टाकपालक पुरोडाश
२. सोम	चरु
३. सविता	द्वादश अथवा अष्टाकपालक पुरोडाश
४. सरस्वती	चरु
५. पूषा	चरु

पञ्च हविर्विधानों के सम्बन्ध में कहा गया है कि इन्हीं पाँच हवियों के द्वारा ही प्रजापति ने प्रजाएँ उत्पन्न किया तथा इन्हीं के द्वारा प्रजापति ने प्रजाओं को वरुण के जाल से बचाया था, जो ऊपर तथा नीचे दोनों दिशाओं में थीं। अतएव सर्वप्रथम पाँच हवियाँ उपरिलिखित पाँच देवताओं के लिए अर्पणीय हैं।[१५] वरुण देव, वरुण प्रघास पर्व के एकमात्र प्रधान जलीय देवता हैं। इस पर्व के अनुष्ठान

का मुख्य उद्देश्य जलोदर रोग से मुक्त होना है,जो कि वरुण का बन्धन समझा जाता रहा है। अत: इसके सम्पादन से उक्त रोग से निदान सम्भव होता है, ऐसी धारण दृष्टिगत होती है। इस प्रकार वरुणप्रघास पर्व आषाढ़ अथवा श्रावण मास की पूर्णिमा तिथि में अनुष्ठेय है, किन्तु श्रावण मास विकल्प स्वरूप ही विहित है। अत: प्रधानत: आषाढ़ ही श्रेयस्कर मास के रूप में है, जिसे सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में प्राथमिकता के साथ स्वीकृति प्राप्त है।

वैश्वदेव पर्व में स्पष्ट किया गया है कि चातुर्मास्य के प्रत्येक पर्व में पाँच प्रधान यागों का विधान पाँच देवों के निमित्त करणीय है। तदनन्तर प्रत्येक पर्व की अपनी विशिष्ट हवियाँ एवं उनके देवता भी सुनिश्चित हैं। इसी अनुक्रम में इस याग की पूर्वलिखित पञ्च हवियों के अतिरिक्त चार अन्य विशिष्ट हवियाँ हैं, जिनके देवता एवं द्रव्य का विवेचन अग्रलिखित है–

१. ऐन्द्राग्न देवता के निमित्त पुरोडाशों का विधान

यह वरुणप्रघास पर्व की प्रधान हवियों को लेकर षष्ठ हवि हैं, जो कि पुरोडाशों के रूप में इन्द्र तथा अग्नि देवताओं के निमित्त प्रदेय है। एतदर्थ दो मत प्राप्त होते हैं। एक वर्ग ऐन्द्राग्न देवता के लिए द्वादश कपालक पुरोडाशों को अर्पण करने का निर्देश देता है[१६] तथा अपर वर्ग एकादश कपालक पुरोडाश को ही अर्पण करने का विधान प्रस्तुत करता है।[१७] ब्राह्मणकार की मान्यता है कि इन्द्र एवं अग्नि वस्तुत: प्राण और उदान हैं। इन्हीं दोनों देवों के कारण प्रजा की मृत्यु नहीं हुई। प्रजापति ने ऐन्द्राग्न देवता को पुरोडाशों का अर्पण करके अपनी प्रजाओं में प्राण और उदान को स्थापित किया था।[१८] इसीलिए द्वादश कपालक पुरोडाश ऐन्द्राग्न देवता के लिए अर्पणीय है। उपर्युक्त मतान्तरों से यह ज्ञात होता है कि इस याग के अनुष्ठान हेतु स्वशाखीय विधान ही आश्रयणीय हैं।

२. मरुत् देवता के निमित्त आमिक्षा का विधान

वरुणप्रघास पर्व की सप्तम हवि मरुत् देवता के निमित्त अर्पित की जाती है। मरुत् देवता के निमित्त प्रदेय हवियों के सम्बन्ध में भी

मतान्तरों की उपलब्धि होती है। एतदर्थ मूलरूप में दो मत प्राप्त होते है। प्रथम मत के प्रतिपादकों ने मरुत देवता के लिए आमिक्षा का विधान विहित किया है[१९], जबकि द्वितीय मत-स्थापकों ने मरुत् देवता के लिए पयस्या-अर्पण करने का निर्देश दिया है।[२०] आचार्य आश्वलायन ने इस सन्दर्भ में अपना विकल्प मत प्रस्तुत किया है कि मरुत् देवता के लिए पयस्या तथा आमिक्षा में से किसी एक को हवि रूप में प्रदान किया जा सकता है।[२१]

ब्राह्मणकार के अनुसार अग्नि में (दक्षिण दिशा में) प्रक्षिप्त पयस्या की आहुति मरुत् देवता के लिए होती है। क्योंकि दक्षिण से ही मरुतों ने प्रजा को मारना चाहा था और उसी भाग से प्रजापति ने उनको पयस्या हवि प्रदान करके शान्त किया। इसीलिए आज भी दक्षिण में आहुति मरुत् देवता के निमित्त विहित की जाती है।[२२]

३. वरुण देवता के लिए आमिक्षा का विधान

इस पर्व की अष्टम हवि वरुण देवता के निमित्त विहित की जाती है। इसके भी द्रव्य निश्चयन में मतभेद प्राप्त होता है। एतदर्थ आचार्यों का एक वर्ग वरुण देवता के लिए आमिक्षा अर्पण करने का निर्देश देता है[२३], तो अन्य वर्ग पयस्या अर्पण करने का।[२४] आश्वलायनाचार्य ने पूर्व आहुति के अनुसार वरुण देवता के निमित्त अर्पणीय द्रव्यों के चयन में पयस्या और आमिक्षा में से किसी भी एक को विकल्प स्वरूप अर्पित करने का विधान दिया है।[२५] शतपथकार के अनुसार उत्तर की हवि वरुण देवता के लिए होती है, क्योंकि वरुण ने ही प्रजापति की प्रजा का निग्रह किया था, जिन्हें उन्होंने इसी हवि अर्पण कृत्य से मुक्त कराया था। इसीलिए वह (यजमान) प्रत्यक्ष ही प्रजा को वरुण के पाश से मुक्त करवाता है।[२६]

४. 'क' देवता के लिए पुरोडाश का विधान

इस पर्व की नवम हवि 'क' नामक देवता के निमित्त प्रदान की जाती है 'क' का अभिधान प्रजापति से है।[२७] यद्यपि 'क' का अर्थ सुख भी है[२८], किन्तु यहाँ 'क' का अ्रथ प्रजापति ही ग्रहण किया गया है। इनके निमित्त अर्पणीय द्रव्य के निश्चयन में सर्वत्र मतैक्य प्राप्त

होता है। प्राप्त विधानों के अनुसार 'क' देवता के लिए एक कपालक पुरोडाश अर्पणीय है।[२९] इस विधान के कारण में एक पुराकथा द्रष्टव्य है-''प्रजापति ने 'क' के लिए एक कपालक पुरोडाश अर्पण करके एक बार प्रजाओं को सुख पहुँचाया था। इसी प्रकार यजमान भी 'क' देवता को एक कपालक पुरोडाश का विधान करके प्रजा को सुख पहुँचाता है। इसीलिए 'क' के निमित्त एक कपालक पुरोडाश अर्पणीय है।[३०] निष्कर्ष स्वरूप इस देवता के निमित्त एक कपालक पुरोडाश का ही विधान किया जाता है।

प्रथम दिन के कृत्य

इस याग के प्रथम दिन चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा तिथि से पहले की रात्रि में यजमान यज्ञशाला में देव सामीप्य हेतु उपवास करता है। इसी निकट-निवास-कर्म के कारण इस दिन को उपवसथ के दिन से भी अभिहित किया जाता है। इसी दिन व्रतोपायन किया जाता है। प्रत्येक इष्टि के अनुष्ठानकाल में यजमान को भोजन, शयन तथा अन्य निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता है। इन्हीं नियमों के पालन के संकल्प को व्रतोपायन कहा जाता है,[३१] जो सपत्नीक यजमान को सम्पन्न करना होता है। उपवसथ के दिन यजमान को सिर, मूँछ एवं दाढ़ी का वपन कराना पड़ता है। इस सन्दर्भ में यजमान की पत्नी को केवल नखों के काटने का तो विधान प्राप्त होता है[३२] किन्तु शिरादि का मुण्डन उसे नहीं कराना होता।

प्रथम दिन भोजन में वेणु, तण्डुल, श्यामाक आदि आरण्यक वस्तुएँ भक्षणार्थ विहित हैं। हवि हेतु प्रयुक्तव्य अन्नादि के प्राशन निषिद्ध हैं। ज्ञातव्य है कि दर्शपूर्णमास याग के इस याग के सम्पादनार्थ ऋत्विजों के अतिरिक्त एक और ऋत्विज् अधिकृत रहता है, जिसे प्रतिप्रस्थाता कहते हैं, जो दक्षिण वेदि में अध्वर्यु का अनुकरण करते हुए कार्य करता है।[३३] इस यागं के क्रम में अध्वर्यु द्वारा वारुणी आमिक्षा हेतु वत्सापाकरण तथा प्रतिप्रस्थाता द्वारा मारुती आमिक्षा हेतु वत्सापाकरण किया जाता है।[३४] दोनों पृथक्-पृथक् इध्म और बर्हि बाँधते हैं।[३५] अब गार्हपत्याग्नि के पूर्व में समान लम्बाई वाली पूर्व और पश्चिम की दो

वेदियों का निर्माण किया जाता है, जिन्हें क्रमशः १. उत्तर वेदि तथा २. दक्षिण वेदि के नाम से जाना जाता है। इन दोनों वेदियों में से उत्तर वेदि, अध्वर्यु के संरक्षण में रहती है, जो कि अध्वर्यु द्वारा निर्मित भी होती है। उसमें अवस्थित अध्वर्यु अपने कृत्यों का सम्पादन करता है। दक्षिण वेदि का निर्माण प्रतिप्रस्थाता द्वारा किया जाता है, जहाँ से वह स्वसम्बन्धी याज्ञिक क्रियाएँ सम्पादित करता है।[३६] दोनों वेदियों के अंशों और श्रोणयों के बीच की दूरी चार अंगुल अथवा पृथुमात्र [तेरह अंगुल] होने का विधान है।[३७]

उत्तर वेदि के मध्य में अध्वर्यु एक प्रादेश परिमाण वाली वर्गाकार नाभि का निर्माण करता है।[३८] नाभि के चारों ओर पूतदारु की परिधियाँ रखी जाती हैं। पूतदारु की लकड़ी, सुगन्धित तेजन, मेष के सींगों के मध्य का ऊन का गुच्छा आदि संभारों को उत्तर वेदि पर स्थापित करता है। अब ब्रह्मा उन दोनों को अनुज्ञा प्रदान करता है।[३९] प्रतिप्रस्थाता दोनों वेदियों के मध्य संचरण तथा उत्तर वेदि के पश्चिम से उत्तर की ओर स्तम्ब यजुष्[४०] का हरण करता है। ध्यातव्य है कि इन दोनों के लिए उत्कर केवल एक ही होता है।[४१] इसी प्रकार होता, ब्रह्मा तथा आग्नीध्र भी प्रकृतिवत् समान कार्य निष्पादन करते हैं।[४२] वेदियों के उत्तर परिग्रह पर्यन्त सभी कृत्य प्रकृतिवत् सम्पादित किये जाते हैं। दोनों वेदियों को मिलाने के लिए दक्षिण वेदि के उत्तर-श्रोणि से प्रारम्भ कर उत्तर वेदि के दक्षिण अंश तक स्फ्य द्वारा एक रेखा खींच दी जाती है।[४३] यह भी स्मर्तव्य है कि निरुढपशुबन्धवत् उत्तर वेदि के निर्माण का विधान विहित है।[४४] इसके अनन्तर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता वेदियों में संभारों का निर्वपन, गार्हपत्य से अग्नि का प्रणयन एवं उसका प्रतिष्ठापन निरुढपशुबन्ध याग की विधि के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप में सम्पादित करते हैं।[४५]

अग्नियों का स्थल निर्धारित कर अध्वर्यु वेदि पर समन्त्रक सप्तभौमिक तथा सप्त काष्ठ पदार्थों को ले आता है।[४६] सप्त भौमिक पदार्थ क्रमशः १. न सूखने वाले जलाशय के जल की मिट्टी, २. सूकर द्वारा खोदी गयी मिट्टी, ३. वाल्मीक वपा अर्थात् बॉबी की मिट्टी, ४. चूहे के बिल की मिट्टी,५. आखु-करीष, ६. कंकण एवं

७. सोना हैं। इन पदार्थों के अतिरिक्त सप्त काष्ठ पदार्थ क्रमशः १. पुष्कर २. पर्ण, ३. उदुम्बर ४. शमी ५. अश्वत्थ ६. पलाश एवं ७. विद्युत् से गिरी हुई लकड़ी होते हैं। इस प्रकार संभार निर्वपन कर संभारों का स्पर्श किया जाता है। अब गार्हपत्य से अग्निप्रणयन और अन्वाधान करके मरुतों और वरुण के निमित्त आमिक्षा हेतु अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता द्वारा वत्सापाकरण एवं सायं दोह आदि कार्य सम्पादन करने के विधान समग्र श्रौतसाहित्य में लगभग एक समानकृत्य के रूप में विहित है।[५७]

उपर्युक्त क्रियाओं के सम्पादन हेतु शाखान्तर विधि विधानों में पूर्वापरता के निदर्शन नाममात्र के ही सम्भव होंगे। प्रधानतया यही क्रम सभी मान्यताओं के अनुरूप सिद्ध है।

यजनीय दिन के कृत्य

प्रथम दिन के अनन्तर अगला दिवस यजनीय दिन कहलाता है। इस दिन प्रातःकाल ही अग्निहोत्र हवन से याग का शुभारम्भ किया जाता है। तदनन्तर पात्रासादन पर्यन्त समस्त कर्मों को इस पर्व की प्रकृति वैश्वदेव पर्व की भाँति पृथक्-पृथक् सम्पन्न किया जाता है।[५८] इस यज्ञ में प्रयुक्तव्य सभी स्रुच शमी वृक्ष के बने होने के साथ हिरण्यमय होने चाहिए।[५९]

हविर्निर्वाप

स्पष्ट किया गया है कि इस पर्व में विहित पञ्च सामान्य हवियों के अतिरिक्त देवताओं के निमत्त चार विशिष्ट हवियों का निर्वपन किया जाता है। प्राप्त विधानों के अनुसार इन चार विशिष्ट हवियों के सन्दर्भ में पर्याप्त मत-मतान्तर दृष्टिगत होते हैं, जिनका वर्णन इसी अध्याय के ''देवता एवं द्रव्य' उपशीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।[६०] एतदर्थ अध्वर्यु हविर्निर्वाप कार्य करता है। इस सम्बन्ध में यज्ञाचार्यों के एक मत के अनुसार सर्वप्रथम ऐन्द्राग्न देवता के निमित्त एकादश कपालक पुरोडाश का निर्वपन करणीय है[६१] तथा दूसरे मत के अनुसार अध्वर्यु द्वारा ऐन्द्राग्न देवता के निमित्त द्वादश कपालक पुरोडाश का सर्वप्रथम निर्वपन किया जाना चाहिए।[६२] तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता मारुती

मेषी के लिए तथा अध्वर्यु वरुणदेव के मेष के लिए यवों का निर्वपन करता है।[53] अन्त में अध्वर्यु 'क' देवता के लिए एक कपालक पुरोडाश के निमित्त व्रीहि का निर्वपन करता है। 'क' (प्रजापति) देवता के निमित्त प्रयुक्तव्य द्रव्य में विद्वानों में सर्वत्र मतैक्य प्राप्त होता है।[54]

ध्यातव्य है कि इस याग की चारों विशिष्ट हवियों के निमित्त यजनीय दिवस में निर्वपन कार्य सम्पादन अध्वर्यु करता है। इसके पश्चात् इस याग के फलीकरण पर्यन्त की समस्त क्रियाएँ चातुर्मास्य याग की प्रकृति याग की भाँति की जाती हैं। अब अवशिष्ट प्रोक्षणी जल से यवों को भिंगो कर उनका अवहन किया जाता है। इस पर्व में आख्या ग्रहण करने एवं स्रुचाधान की प्रक्रियाएँ सामान्य हैं।

करम्भ-पात्रों[55] का निर्माण एवं मेष मेषीकरण

अन्वाहार्य पचनाग्नि पर भूने हुए जौ के सत्तू में दही मिलाकर साने हुए आटे से कतिपय पशु एवं दीप की आकृतियाँ निर्मित की जाती हैं। ये ही करम्भ पात्र कहलाते हैं। ऐन्द्राग्न पुरोडाश पर्यन्त हवियों के निमित्त कपालोपधान की क्रिया सम्पन्न हो जाने पर गार्हपत्य के उत्तर में प्रतिप्रस्थाता द्वारा छिलके रहित भुने हुए जौ के आटे में दधि का मिश्रण करके करम्भ पात्रों का निर्माण कार्य किया जाता है।[56] आचार्य कात्यायन तथा आपस्तम्ब के अनुसार करम्भ-पात्रों का निर्माण यजमान की पत्नी द्वारा किया जाता है,[57] जिनकी संख्या यजमान के पारिवारिक सदस्यों की संख्या से एक अधिक होती है।[58]

करम्भ पात्रों की संख्या का निश्चयन यजमान के जिन पारिवारिक सदस्यों के आधार पर किया जाता है, उनके सम्बन्ध में दो मत प्राप्त होते हैं। प्रथम कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार यजमान का पुत्र, कुमारी पुत्रियाँ, पौत्र एवं कुमारी पौत्रियों से एक अधिक होती है[59] तथा द्वितीय आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार इस कोटि में वधुओं के भी सम्मिलित होने का विधान है।[60] इसके अनन्तर अवशिष्ट दधि मिश्रित जौ के आटे से अध्वर्यु एक मेष तथा प्रतिप्रस्थाता एक मेषी का निर्माण करता है।[61] ध्यातव्य है कि मेष और मेषी की प्रतिकृति में क्रमशः पुरुष और स्त्री के अंग निर्दिष्ट होते हैं।[62] इन दोनों मेष, मेषी की आकृतियों

को ऐड के ऊन को छोड़कर अन्य किसी भी पशु के ऊन से अथवा उसके अभाव में कुशों के अग्रभाग से ढक देने का विधान प्राप्त होता है।[63] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार–''मेष प्रत्यक्ष रूप से वरुण का पशु है, जो कि प्रत्यक्ष ही वरुण के पाश से प्रजा को मुक्त कर देता है। इसीलिए मेष और मेषी बनाये जाते हैं।[64]'' एतदर्थ स्मर्तव्य है कि जोड़े से ही प्रजा, वरुण के पाश से मुक्त होती है, इसीलिए ये युग्म रूप में बनाये जाते हैं।[65] विद्वानों के एक मत के अनुसार इस कृत्य के पश्चात् अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता अपनी-अपनी आमिक्षा को स्थाली में रखते हैं[66], जबकि दूसरे मत के अनुसार वे दोनों आमिक्षा के स्थान पर पयस्या को स्थापित करते हैं।[67] अब वे दोनों वरुण के निमित्त विहित दधि के अतिरिक्त दही में करीर फल को भी डाल देते हैं।[68] वे दक्षिणी वेदि की दधि में वरुण के निमित्त मेष तथा उत्तर वेदि की दधि में मरुत् के लिए मेषी को स्थापित करते हैं।[69] इस प्रकार के कृत्य के सम्पादन हेतु ब्राह्मणकार का विचार है कि, स्त्री, पुरुष के उत्तर बाईं ओर लेटती है, इसीलिए मेषी की स्थापना मेष के उत्तर दिशा में की जाती है।[70]

अब करम्भ पात्रों के निर्माण एवं मेष-मेषी करण के अनन्तर अग्नि-प्रणयन एवं आज्य-ग्रहण किया जाता है। इसके अन्तर्गत आप्य देवों के निमित्त हवियों के प्रक्षालन तथा जल का निनयन किया जाता है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता आहवनीय अग्नि पर दो इध्मों को प्रज्वलित कर पृथक्-पृथक् अग्नियों का प्रणयन करते हैं।[71] तदनन्तर आहवनीय के दक्षिण में उपयमनी के निर्वाप का विधान है।[72] उपलराजि बिछाकर वे दोनों पूर्णाहुति होम करते हैं। प्रतिस्थाता स्फ्य द्वारा दक्षिण वेदि के उत्तरी छोर से उत्तर वेदि के दक्षिणी छोर तक सम्बद्ध करने वाली एक रेखा खींचता है।

इसके अनन्तर वे पिष्टलेप से उत्तर परिग्रह करते हैं।[73] अब स्रुव एवं स्रुचों का सम्मार्जन, पत्नी-सन्नहन एवं आज्यग्रहणादि कर्म किये जाते हैं।[74] पृषदाज्य ग्रहण की प्रक्रिया वैश्वदेव याग के समान ही है।

हविरासादन एवं अग्नि-मन्थन

यागानुष्ठान सम्पादन के क्रम में आज्य-ग्रहण के अनन्तर हविरासादन किया जाता है। अध्वर्यु उत्तर वेदि पर चार हवियाँ क्रमशः १. इन्द्र के निमित्त पुरोडाश २. अग्नि देवताक पुरोडाश ३. वरुण हेतु आमिक्षा तथा ४. 'क' (प्रजापति) के लिए पुरोडाश की स्थापना करता है। इसी क्रम में प्रतिप्रस्थाता दक्षिण वेदि पर पाँचवी हवि, मारुती आमिक्षा की स्थापना करता है।[७५] इस प्रकार पञ्च हवियों का आसादन कृत्य सम्पन्न किये जाते हैं। वरुण की आमिक्षा तथा मारुती आमिक्षा के स्थान पर दसरे मत के अनुसार पयस्या का विधान विहित है।[७६] श्रौत साहित्य में प्राप्त विधानों के अनुसार मरुत् देवताक और वरुण देवताक आमिक्षा को वाजिन् से उपस्तृत दो चमसों में पृथक्-पृथक् रख दिया जाता है। अध्वर्यु द्वारा मारुती आमिक्षा पर मेष की तथा प्रतिप्रस्थाता द्वारा वारुणी आमिक्षा पर मेषी की प्रतिकृति की स्थापना की जाती है। इसके अनन्तर मेष, मेषी एवं करम्भ पात्रों पर शमी-पर्ण और करीर-फल के सक्तुओं का उपवपन किया जाता है।[७७]

तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता मारुती आमिक्षा एवं करम्भ पात्रों को दक्षिणवेदि में तथा अध्वर्यु आग्नेयादि अन्य हवियों को उत्तर वेदि में स्थापित करता है। यहाँ प्रतिकृतियों पर व्यत्यास कर मारुती आमिक्षा पर मेषी एवं वरुण आमिक्षा पर मेष की प्रतिकृति स्थापित कर दी जाती है।[७८] अब अध्वर्यु द्वारा उत्कर पर दोनों वाजिन् पात्रों का आसादन किया जाता है।

अग्निमन्थन

हवियों के आसादन के अनन्तर अग्निमन्थन और सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन का विधान विहित किया गया है।[७९] इस समय उत्तर वेदि की अग्नि का सम्मार्जन किया जाता है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों समिधाओं का मन्थन करके अग्नि उत्पन्न करते हैं। अग्नि प्रोक्षण कर प्रतिप्रस्थाता यजमान-पत्नी से उसके जारों (प्रेमियों की संख्या के विषय में पूछता है[८०], तथा कहता है उन प्रेमियों को वरुण ग्रहण करें।[८१]) यजमान-पत्नी सत्य बातें कहती हैं। ज्ञातव्य है कि यदि यजमान पत्नी जारों

के होने पर सत्य नहीं बताती, तो उसके प्रिय सम्बन्धियों का अनिष्ट हो जाता है।[८२] ऐसी स्थिति में यजमान की पत्नी सत्यमेव कथन करती है। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण का विचार है कि प्रतिप्रस्थाता यजमान-पत्नी से यह प्रश्न इसलिए पूछता है कि कहीं वह मन में पछतावा करके आहुति न दे दे। निरुक्त अर्थात् कहा हुआ पाप कम हो जाता है। यदि वह पाप को छिपायेगी तो उसके सम्बन्धियों का अहित होगा।[८३]

करम्भ पात्र होम

यजमान-पत्नी सत्य-भाषण करके हषीक निर्मित शूर्प में करम्भ-पात्रों की स्थापना करती है। तदनन्तर यजमान और यजमान-पत्नी दोनों अपनी-अपनी स्थालियाँ लेकर यज्ञ-स्थल के पीछे दायीं ओर जाकर तथा दक्षिण वेदि के सामने खड़े होकर अपने सिर पर शूर्प को रखकर पीछे को घूमते हैं।[८४] इस समय यजमान करम्भ पात्रों को सिर पर रखे हुए पुरोनुवाक्या का अनुवचन करता है।[८५] अब यजमान और उसकी पत्नी दोनों याज्या[८६] का पाठ करते हुए अपनी-अपनी स्थाली के हवि रूप करम्भ पात्रों का हवन करते हैं।[८७] शूर्प को भी अग्नि में फेंक देने का विधान प्राप्त होता है।[८८] आचार्य कात्यायन ने इस सन्दर्भ में अपना विकल्प मत प्रस्तुत किया है कि 'यजमान और उसकी पत्नी में से कोई भी हवन कर सकता है।[८९] इसके अनन्तर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता उत्तर और दक्षिण वेदि पर रखी गयी हवि का क्रमश: हवन करते हैं। इस समय यजमान और उसकी पत्नी के द्वारा अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता को स्पर्श किये रहने का विधान है।[९०] हवन के अनन्तर वहाँ प्रस्थान करते हुए यजमान एवं उसकी पत्नी तथा अध्वर्यु को मन्त्र का जप करना चाहिए।[९१] अब प्रतिप्रस्थाता दक्षिण-अग्नि का सम्मार्जन करता है। इसके पश्चात् प्रधान आहुतियों तक के सभी कृत्य वैश्वदेव याग की भाँति सम्पन्न किये जाते हैं।

प्रधान याग[९२]

अब ऐन्द्राग्न याग-पर्यन्त प्रधान आहुतियों के समस्त कृत्य प्रकृतिवत् सम्पन्न किये जाते हैं। इसके अनन्तर प्रतिप्रस्थाता मारुती आमिक्षा से प्रथम अवदान के साथ सम्पूर्ण मेषी तथा द्वितीय अवदान के साथ शमी-पर्ण और करीर-सक्तुओं को ग्रहण करके आहुति देता है। विद्वानो के एक मत के

अनुसार मारुती-आमिक्षा और वारुणी-आमिक्षा के स्थान पर मारुती-पयस्या और वारुणी-पयस्या का विधान किया गया है।[९३] इसके अनन्तर पूर्ववत् 'क' देवता के निमित्त एक कपालक पुरोडाश की आहुति देकर उस पुरोडाश पर चार मासों के नामों से युक्त चार मन्त्रों द्वारा चार आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[९४] अब अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों एक साथ ही स्विष्टकृत और इडा के निमित्त अवदान लेते हैं।[९५] प्राप्त विधानों के अनुसार इस याग में दक्षिणास्वरूप दो गायें अर्पणीय हैं।[९६]

वाजिन् याग

इसके अनन्तर अनूयाज आहुतियों, सूक्तवाक्, शंयुवाक् एवं परिधि प्रहरण सम्बन्धी कृत्य सम्पादन करके अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों वैश्वदेव याग में निर्दिष्ट विधि से वाजिन् याग का अनुष्ठान करते हैं।[९७] वाजिन् याग के अन्तर्गत वे दोनों वाजिन् अथवा आमिक्षा का प्रयोग हवन में करते हैं। अवशिष्टांश का उन दोनों ऋत्विजों द्वारा प्राशन किया जाता है।[९८] पत्नी संयाज[९९] एवं समिष्ट यजुष्[१००] की प्रक्रिया सामान्य हैं। अध्वर्यु तीन बार ध्रुवा को भरकर समिष्ट यजुष् की तीन आहुतियाँ देता है तथा प्रतिप्रस्थाता दक्षिणाग्नि में हवन करता है। तदनन्तर क्रमशः प्रतिप्रस्थाता स्रुच, स्रुव एवं आज्य स्थाली, आग्नीध्र जौ का छिलका तथा अध्वर्यु स्रुच का आदान करके चात्वाल से प्रयाण करते हैं। ये तीनों जल के समीप पहुँचकर उसमें स्नान करके आहुति देते हैं। तत्पश्चात् विना बर्हि के नव प्रयाज तथा नव अनुयाजों की आहुतियाँ दी जाती हैं।[१०१] अग्नि स्विष्टकृत के स्थान पर अग्नि वरुण के निमित्त तुष् निष्काष की आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके अनन्तर 'पूर्ण-पात्र' से सम्बन्धित अनुष्ठान को छोड़कर अन्य सभी कृत्य वैश्वदेव याग की भाँति सम्पन्न किये जाते हैं।

अवभृथ

वरुण प्रघास याग में 'पूर्णपात्र' सम्बन्धी कृत्य के स्थान पर सोम याग की भाँति अवभृथ का अनुष्ठान सम्पादन किये जाने का विधान है।[१०२] इसके लिए चतुर्गृहीत आज्य का ग्रहण किया जाता है। सभी लोग वारुणी आमिक्षा के निष्कास और तुषों को ग्रहण करके अवभृथ (स्नान के स्थान) की ओर प्रस्थान करते हैं। यह स्नान वरुण देवता

के निमित्त है, जिसे वरुण के पाश से मुक्त होने के लिए किया जाता है।[१०३] ज्ञातव्य है कि इस प्रसंग में सामगान नहीं किया जाता।[१०४] सामगान के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण कृत्य सौमिक अवभृथ की भाँति किये जाते हैं। इसमें ऋजीष् के स्थान पर तुषों का प्रयोग किया जाता है।[१०५] अब अध्वर्यु मन्त्र–"अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।" अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देवरिषस्पाहि।[१०६] का पाठ करता है। इसके उच्चारण का प्रयोजन निष्पाप होना तथा राक्षसों से त्राण प्राप्त करना है।[१०७]

इसके अनन्तर जल में वारुणी-आमिक्षा के निष्कास की आहुति वरुण देवता के लिए एक कपालक पुरोडाश की विधि से प्रदान की जाती है।[१०८] अब अवभृथ-जल से निकलकर यजमान और उसकी पत्नी अपने वस्त्रों को इच्छानुसार किसी व्यक्ति को प्रदान करके[१०९] दोनों नवीन वस्त्र धारण करते हैं। कतिपय आचार्यों ने अवभृथ अनुष्ठान न करने का निर्देश दिया है, जिसके अनुसार तुष् और निष्कास जल में निर्मन्त्रक उपवपन करना पड़ता है।[११०] अवभृथ अनुष्ठान के अनन्तर यजमान मन्थन द्वारा नयी अग्नि उत्पन्न कर दूसरे दिन पूर्णमासेष्टि का अनुष्ठान करता है। इसमें केश निवर्तनादि कर्म पूर्ववत् करणीय है।[१११]

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में वर्णित इस याग के विधि-विधानों में यद्यपि यत्किञ्चित् भिन्नता प्राप्त होती है तथापि इसकी प्रधान आनुष्ठानिक प्रक्रिया समान रूप में ही विहित की गयी है। स्मरणीय है कि इसकी आनुष्ठानिक भिन्नताओं के कारण शाखान्तर प्रभाव ही हैं, जिन्हें अपनी-अपनी प्रचलित मान्यताओं के अनुरूप उपनिबद्ध किया गया है। इस पर्व की आनुष्ठानिक प्रक्रिया का विधान सभी शाखाओं के याज्ञिक ग्रन्थ प्रस्तुत करते हैं।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. शं०ब्रा०, २.५.२.१, "प्रजाः ससृजे...यवान्प्रादंस्तस्माद्वरुणप्रघासानाम्।"
२. हि०ध०शा०, १.३१, पृ० ५३६
३. श०ब्रा०, २.५.२.१
४. स०मो०वि० सं०इं०डि०, पृ० ३७७
५. तै०ब्रा०, १.४६.६३

६. हि०ध०शा०, १.३१, पृ० ५३६
७. वैखा०श्रौ०, १९.९/८.९, ''वैश्वदेववतन्त्रम्'', सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४५६, भा०श्रौ०, ८.५.२
८. भा०श्रौ०, ८.३.८.१ ''ततश्चतुर्थु मासेषु वरुण प्रघासैर्यजते।'' तै०ब्रा० १.५.७.७, श०ब्रा०, २.५.२.४, ता०ब्रा०, १७.१३.७, बौधा०श्रौ०, ५.४.५, मान०श्रौ०, १.७.३.१, सत्या०श्रौ०, २.५.२, वारा०श्रौ०, १.७.१.१
९. जै०ब्रा०, ११.२.१३, ''वर्षासु वरुणप्रघासैः।'' तै०ब्रा०, १.४.९, कात्या०श्रौ०, ५.२.२१, पृ० ४३८, आप०श्रौ०, ८.४.१३, वैखा०श्रौ०, १९.९/८.९, मान०श्रौ०, १.७.३.१, बौधा०श्रौ०, ५.४.५, शां०श्रौ०, ३.१४.१, भा०श्रौ०, ८.३.८.१,सत्या०श्रौ० २.५.२, वैता०श्रौ०, ८.९.१७, आश्व०श्रौ०, २.२०.२, वारा०श्रौ०, १.७.१.१
१०. श०ब्रा०, २.५.२.४
११. तै०ब्रा०, १.४.९, ''आषाढ्यां पौर्णमास्यां वरुणप्रघासाख्यम्।'' वैता०श्रौ०, ८.९.१७, कात्या०श्रौ०, ५.१.२, शां०श्रौ०, ३.१४.१,वै०को० पृ० ३९६
१२. वैखा०श्रौ०, १८.९/८.९, ''आषाढ्यां श्रावण्यां वा वरुणप्रघासैर्यजते।'' सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४५५, कात्या०श्रौ०, ५.११.१-२ एवं व्याख्या, आप०श्रौ०, ८.५.१, आश्व०श्रौ०, २.२०.२ की व्याख्या, जै०ब्रा०, ११.२.१३
१३. कात्या०श्रौ०, ५.११.१-२
१४. द्र० चातुर्मास्य याग की प्रकृतियाग, तृतीय अध्याय ''वैश्वदेव पर्व''
१५. श०ब्रा० २.५.२.७
१६. मै०सं० १.१०.१, ''ऐन्द्राग्नो द्वादश कपालः।'' का०सं०, ९,'४, गो०ब्रा०, १.२२, श०ब्रा०, २.५.२.८, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५.१०, मान०श्रौ०, १.७.३.१०, वै०को० सूर्यकान्त, पृ० ३९६
१७. तै०सं०, १.८.३, ''ऐन्द्राग्नमेकादश कपालम्'' बौधा०श्रौ०, ५.५, पृ० १३४, भा०श्रौ०, ८.६.८, पृ० १०५, वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६२, आश्व०श्रौ०, २.१६.१४, श्रौ०प०नि०, ८४.४७१
१८. श०ब्रा०, २.५.२.८
१९. तै०सं०, १.८.३, ''मारुतीमामिक्षां'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.४, तै०ब्रा०, १.६.४-५, भा०श्रौ०, ८.५.५, पृ० १०५, बौधा०श्रौ०, ५.५, पृ० १३४, वै०को० सूर्यकान्त, पृ० ३९६, श्रौ०प०नि०, पृ० ८४, प९ ४७१
२०. श०ब्रा०, २.५.२.९-१०, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५.७, ''अथ यन्मारुती पयस्या'', गौ०ब्रा०, १.२२
२१. आश्व०, २.१६.१४,
२२. श०ब्रा०, २.५.२.१०
२३. तै०सं०, १.८.३, 'वारुणीमामिक्षां ।' मै० सं०, १.१०.१, का० सं०, ९.४.

तै०ब्रा०, १.६.४-५, भा०श्रौ०, ८.५.६, बौधा० श्रौ०, ५.५, पृ० १३४, वै० को०, पृ० ३९६, श्रौ० प० नि०, पृ० ८४, प० ४७१

२४. शं० ब्रा०, २.५.२.९-१०, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५.६, 'तस्मद वारुणी पयस्या' गो० ब्रा०, १.२२

२५. आश्व० श्रौ०, २.१६.१४

२६. श०ब्रा०, २.५.२.१०

२७. वही०, २.५.२.१३, कौषी० ब्रा०, ५.३.३-५.१५, 'प्रजापतिवर्वै कः ।'

२८. वही, २.५.२.१३, गो० ब्रा०, १.२२, १.२२, कौषी० ब्रा०, ५.३.३-५.१५

२९. तै० सं०, १.८.३, 'काममेककपालम्', मै० सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.४, श०ब्रा०, २.५.२.१३, तै०ब्रा०, १.६, ४-५, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५.१४, बौधा० श्रौ०, ५.५, पृ० १३४, भा० श्रौ०, ८.६.११, पू० १०६, मान० श्रौ०, १.६.३.१०, श्रौ०प०नि०,पृ० ८४, प० ४६१, वै० को०, सूर्यकान्त, पृ० ३९६

३०. श०ब्रा०, २.५.२.१३, गो०ब्रा०, १.२२

३१. श्रौ०प०नि०पृ० ७२, ''व्रतग्रहणं व्रतोपायनमिति चोच्यते।''

३२. मान०श्रौ०, १.४.१३, ''पत्नी नखाश्च कारयीत्।''

३३. वैखा०श्रौ०, १९.९/८.९, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४५९-४६०, कात्या०श्रौ०, ५.४.३३, मान०श्रौ०, ८.५.९.१३

३४. मान०श्रौ०, १.७.३.४, ''मारुत्यै प्रतिप्रस्थातावत्सानपाकरोत्यध्वर्युवारुण्यै।''

३५. वही, १.७.३.५, ''पृथगिध्मबर्हिषी संनह्यत:।''

३६. आप०श्रौ० ८.५.५

३७. तै०ब्रा०, १.६.४,''पृथुमात्राद वेदी असंभिन्ने भवत:।'' सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४५८, वारा०श्रौ०, १.७.१.१, वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०, आप०श्रौ०, ८.५.१०, मान०श्रौ०, ८.५.८

३८. मान०श्रौ०, १.७.३.२१, ''तस्यां मध्ये प्रादेशमात्रीं चतुरस्रा नाभिं करोति।''

३९. वैखा०श्रौ०, १९.९/८.९, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४५७-५९, आप०श्रौ० ८.५. १७, जै०ब्रा०, ११.२.३५-४३, ११.२.४४-४८

४०. श्रौ०प०नि०

४१. मान०श्रौ०, १.७.३.२७, ''एक: उत्कर:'' कात्या०श्रौ०, ५.३.१६, सत्या०श्रौ० २.५.२, पृ० ४६०

४२. वैखा०श्रौ०, १९.९/८.९, कात्या०श्रौ०, ५.३.१६, शां०श्रौ०, ५.८.१२, सत्या०श्रौ० २.५.२, पृ० ४६०

४३. सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६०, वैखा०श्रौ० १९.९/८.९, कात्या०श्रौ० ५.४. ९-१०, आप०श्रौ०, ८.५.२०, मान०श्रौ०, ८.५.१४-१५

४४. वैखा०श्रौ०, १९.९/८.९, ''तत्र पाशुकीमुत्तरवेदिं च।'' सत्या०श्रौ० २.५.२, पृ०

४६०, कात्या०श्रौ०, ५.३.१३, भा०श्रौ० ८.५.१४-१६

४५. वैखा०श्रौ०, १९.९/८.९, भा०श्रौ०, ८.५.१६, ८.६.२, आप०श्रौ०, ८.५.२२, कात्या०श्रौ०, ५.४.२-३, जै०ब्रा० ६.३.२३-२५

४६. वारा०श्रौ०, १.४.२, १-८, कात्या०श्रौ०, ३.१२.१७-२०, तै०ब्रा०, १.२.१.१७

४७. मान०श्रौ०, १.७.३.४

४८. द्र०तृ० अध्याय, ''वैश्वदेवपर्व''

४९. वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६१, भा०श्रौ० ८.६. २-६

५०. द्र० इसी अध्याय का ''देवता एवं द्रव्य'' उपशीर्षक।

५१. तै०सं०, १.८.३, ''ऐन्द्राग्नमेकादशकपालम्'', बौधा०श्रौ०, ५.५, पृ० १३४, भा०श्रौ०, ८.६.८, पृ० १०५, वैखा०श्रौ० १९.१०/८.१०, सत्या०श्रौ० २.५.२, पृ० ४६२, आश्व०श्रौ०, २.१६.१४, श्रौ०प०नि०, पृ० ८४, प० ४७१

५२. मै०सं०, १.१०.१, ''ऐन्द्राग्नो द्वादश कपाल:।'' का०सं०, ९.४, गो०ब्रा०, १. २२, श०ब्रा०, २.५.२.८, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५, १०, मान०श्रौ०, १.७.३.१०, वै०को०, पृ० ३९६

५३. वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६२, भा०श्रौ०, ८.६. ८-१२, आप०श्रौ०, ८.५.३६-३७

५४. तै०सं०, १.८.३, ''कायमेककपालम्'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.४, श०ब्रा०, २.५.२.१३, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५.१४, बौधा०श्रौ०, ५.५, पृ० १३४, भा०श्रौ०, ८.६.११, पृ० १०६, मान०श्रौ० १.७.३.१०, श्रौ०प०नि०, पृ० ८४, प० ४७१, वै०को०, पृ० ३९६

५५. कात्या०श्रौ०, ५.३.२ दही में साना गया सत्तू करम्भ है।

५६. मै०सं०, १.१०.११, का०सं०, ३६.६, श०ब्रा०, २.५.२.१४, तै०ब्रा०, १.६.४, वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६२-४६३, भा०श्रौ० ८.६.१, कात्या०श्रौ०, ५.३.३-५, मान०श्रौ०, १.७.४.१, वारा०श्रौ०, १.७.१८

५७. कात्या०श्रौ०, ५.३.३-४, आप०श्रौ०, ८.५.५

५८. मै०सं०, १.१०.११, का०सं०, ३६.५-६, ''एकमधि भवति।'' श०ब्रा०, २. ५.२.१५० वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६२-४६३, कात्या०श्रौ०, ५.३.३-५, मान०श्रौ०, १.७.४.१, भा०श्रौ०, ८.६.१, बौधा०श्रौ०, ५.५, पृ० १३३

५९. कात्या०श्रौ०, ५.३.३-४

६०. आप०श्रौ०, ८.५.४.१

६१. वारा०श्रौ०, १.७.१९

६२. श०ब्रा०, २.५.२.१६-१७, तै०ब्रा०, १.६.४, वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०, भा०श्रौ०,

८.७.३-५, आप०श्रौ०, ८.६.५, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६२

६३. का०सं०, ३६.५-६, तै०ब्रा०, १.६.४, श०ब्रा०, २.५.२.१५, ''यद्यनैडकीरूर्णाविन्देत्ता: प्रणिज्य निष्लेषयेत्।'' भा०श्रौ०, ८.७.६-७, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६४, वैखा०श्रौ०, १९.११/८.११

६४. श०ब्रा०, २.५.२.१६

६५. वही, २.५.२.१६

६६. तै०सं०, १.८.३, मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.४, तै०ब्रा०, १.६.४-५, भा०श्रौ०, ८.५.५, पृ० १०५, बौधा०श्रौ०, ५५, पृ० १३४, वै०को०, पृ० ३९६

६७. श०ब्रा०, २.५.२.९-१०, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५७, गौ०ब्रा० १.२२, आश्व०श्रौ०, २.१६.१४

६८. तै०ब्रा०, १.६.४-५, श०ब्रा०, २.५.११-१२, मान०श्रौ०, १.७.४.७, ''वारुणैनिष्काशं शिष्ट्वा पयस्ययो: करीरसक्तूनावपत:।'' भा०श्रौ०, ८.८.९, पृ० १०७, सत्या०श्रौ०, २.५.२., पृ० ४६४, बौधा०श्रौ०, ५.६, पृ० १३६

६९. श०ब्रा०, २.५.२.१७, तै०ब्रा०, १.६.४-५, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६४, मान०श्रौ०, १.७.४.८, ''मारुत्यां मेषमवदधाति वारुण्यां मेषीम्।'' भा०श्रौ०, ८.८.८, वारा०श्रौ०, १.७.३.२.४४

७०. श०ब्रा०, २.५.२.१७

७१. वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०.११, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६४, भा०श्रौ०, ८.७.९-८

७२. मान०श्रौ०, १.७.३.४४, ''अग्नेकुलायमसीति दक्षिणत आहवनीयस्योपयमनी: निर्वपति।''

७३. वही, १.७.३.४९, ''पिष्ठलेपौ निनीयोत्तरौपरिग्राहौ परिगृह्णाति।''

७४. वही, १.७.३.५०, ''सिद्धमाज्यग्रहेभ्य:'' वैखा०श्रौ०, १९.१०/८.१०-११, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६४, भा०श्रौ०, ८.६.९-८

७५. तै०सं०, १.८.३, मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.४, तै०ब्रा०, १.६.४-५, भा०श्रौ०, ८.५.५, पृ० १०५, वैखा०श्रौ०, १९.११/८.११, बौधा०श्रौ०, ५.५, पृ० १३४, वै०को०, पृ० ३९६

७६. श०ब्रा०, २.५.२.१०, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५.७, गो०ब्रा०, १.२२,आश्व०श्रौ०, २.१६.१४

७७. वैखा०श्रौ०, १९.११/८.११, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६४, मान०श्रौ०, १.७.४५, भा०श्रौ०, ८.८.६-१०, बौधा०श्रौ०, ५.६, पृ० १३६

७८. वैखा०श्रौ०, १९.११/८.११, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६४, कात्या०श्रौ०, ५.५.४, भा०श्रौ०, ८.८.११-१४

७९. तै०सं०, १.८.३.१, तै०ब्रा०, १.६.५.२, श०ब्रा०, २.५.२.२०, वैखा०श्रौ०, १९.

११-१२/८.११-१२, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६५, आप०श्रौ०, ८.६.२२, भा०श्रौ०, ८.९.४-६, बौधा०श्रौ०, ९ ५.७, पृ० १३६

८०. श०ब्रा०, २.५.२.२०, ''अर्थ प्रतिप्रस्थाता पतिपरैति। स पत्नीमुदानेष्यन्पृच्छति केन चरसीति...स्यात।'' तै०सं०, १.८.३.१, तै०ब्रा०, १.६.५.२, मान०श्रौ०, १.७.४.११, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६५, बौधा०श्रौ०, ५.७, पृ० १३६, भा०श्रौ०, ८.९.४-६

८१. श०ब्रा०, २.५.२.२०, तै०ब्रा०, १.६.५.२, मान०श्रौ०, १.७.४.११, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६५, आप०श्रौ०, ८.६.२२, भा०श्रौ०, ८.९.४-६, बौधा०श्रौ०, ५.७, पृ० १३६

८२. तै०सं०, १.८.३.१, तै०ब्रा०, १.६.५.२, श०ब्रा०, २.५.२.२०, सत्या०श्रौ० २.५.२, पृ० ४६५, आप०श्रौ०, ८.६.२२, भा०श्रौ०, ८.९.४-६

८३. श०ब्रा०, २.५.२.२०

८४. भा०श्रौ०, ''एषीकेशूर्प उपस्तीर्य...शीर्षन्नधिनिधाय पुरस्तात्प्रत्यङ्-तिष्ठन्...।'' सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६५, वैखा०श्रौ०, १९.१२/८.१२, आप०श्रौ०, ८.६.२३, मान०श्रौ०, १.७.४.१३, बौधा०श्रौ०, ५.७, पृ० १३७

८५. तै०सं०, १.८.३, वा०सं०, ३.४४-४८, कपि०सं०, ८.७, का०सं०, ९.४, मै०सं० १.१०.२, श०ब्रा०, २.५.२.२८, बौधा०श्रौ०, ५.७, पृ० १३७, ''तानि यजमानः शीर्षन्नधिनिधत्तेथपुरोनुवाक्यामन्वाह, भा०श्रौ०, ८.९.८, पृ० १०८, मान०श्रौ०, १.७.४.१४, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६५, वारा०श्रौ०, १.७.३.३१, पृ० ६५, वैखा०श्रौ०, १९.१२/८.१२, आप०श्रौ०, ८.६.२३

८६. तै०सं०, १.८.३ वा०सं०, ३.४४-४८, कपि०सं०, ८.७, का०सं०, ९.४, मै० १.१०.२, श०ब्रा०, २.५.२.२५, यजु० ३.४५, भा०श्रौ०, ८.९.१०, बौधा०श्रौ०, ५.८, पृ० १३७, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६५, वैखा०श्रौ०, १९.१२/८.१२, आप०श्रौ०, ८.६.२३, मान०श्रौ०, १.७.४.१५, वारा०श्रौ०, १.७.३.३२, पृ० ६५

८७. मान०श्रौ०, १.७.४.१५, ''इति हुहुतः शूर्पेण करम्भपात्राणि।'' भा०श्रौ०, ८.९.७.९, पृ० १०८, ''यजमानः सह पत्न्या करम्भपात्राणि जुहोति।'' सत्या०श्रौ० २.५.२, पृ० ४६३, वैखा०श्रौ०, १९.१२/८.१२, आप०श्रौ० ८.६.२३-२४, श०ब्रा०, २.५.२.२१, मन्त्र के लिए द्र० तै०सं०, १.८.३.१, वा०सं०, ३.४४.४८, कपि०सं०, ८.७, का०सं०, ९.४, यजु०, ३.४४

८८. वैखा०श्रौ०, १९.१२/८.१२, आप०श्रौ०, ८.६.२३-२४

८९. कात्या०श्रौ०, ५.५.११

९०. वैखा०श्रौ०, १९.१२/८.१२, ''अध्वर्युःप्रतिप्रस्थाता वा जुहोत्यन्वारभेते इतरौ।'' भा०श्रौ०, ८.९.१०-११, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६३, आप०श्रौ०, ८.६.२६

९१. तै०सं०, ४.४.११-१, वैखा०श्रौ०, १९.१३, ८.१३, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ०

४६६-४६७, आप०श्रौ०, ८.६.२९-३१, भा०श्रौ०, ८.१०.२-९

९२. तै०सं०, ४.४.११.१, श०ब्रा०, २.५.२, वैखा०श्रौ०, १९.१३/८.१३, सत्या०श्रौ० २.५.२, पृ० ४६६-४६७, आप०श्रौ०, ८.६.२९-३१, भा०श्रौ०, ८.१०.२-९, मान०श्रौ०, १.७.४.२१-२३, बौधा०श्रौ०, ५.८, पृ० १३८

९३. द्र० इसी अध्याय का ''देवता एवं द्रव्य'' उपशीर्षक

९४. तै०सं०, १.४.१४, ''नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च'', का०सं०, १.६.३, मै०सं०, १.३.१६, का०सं०, ४.७, वा०सं०, ७.३०, भा०श्रौ०, ८.१०.९, ''एककपालस्यावृतैककपालँहुत्वोत्तरैश्चतुर्भिर्मासिनामझिरभिजुहोति नभसे स्वाहा'', ''नभस्याय स्वाहा'', ''इषाय स्वाहा'', ''ऊर्जाय स्वाहा इति।'' मान०श्रौ०, १.७.४.२४, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६७, वैखा०श्रौ०, १९.१३/८.१३, श०ब्रा०, २.५.२

९५. मान०श्रौ०, १.७.४.२५, ''उभयत्र स्विष्टकृत्समानीयेडाम।'' भा०श्रौ०, ८.१०. १०, पृ० १०८

९६. वा०का०सं०, ३.५, ''अथ यन्मिथुनौ गावौ ददाति।'' वा०सं०, ३.५, का०श०ब्रा०, १.५.१, १.६.४, शां०ब्रा०, ५.३-४, गो०ब्रा०, १.२२, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५. १९, मान०श्रौ०, १.७.४.२६, भा०श्रौ०, ८.१०.१०-१२, वैखा०श्रौ०, १९.१३/८. १३, आप०श्रौ०, ८.७.५.७

९७. वैखा०श्रौ०, १९.१३/८.१३, भा०श्रौ०, ८.१०.१३-१५, ८.११.२, आप०श्रौ०, ८. ७.१०, बौधा०श्रौ०, ५.८, पृ० १३९, मान०श्रौ०, १.७.४.२८, सत्या०श्रौ०, २. ५.२, पृ० ४६७

९८. मान०श्रौ०, १.७.४.५९, ''शेषे समानीय भक्षयन्ति।'' भा०श्रौ०, ८.११.१, पृ० १०९, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६७

९९. मान०श्रौ०, १.७.४.३०, ''सिद्धं पत्नी संयाजेभ्यः'', भा०श्रौ०, ८.११.४, पृ० १०९

१००. भा०श्रौ०, ८.११.५, पृ० १०९, मान०श्रौ०, १.७.४.३२, ''सिद्धमा समिष्टयजुर्भ्यः।''

१०१. मान०श्रौ०, १.७.५.३९, ''अपबर्हिषः प्रयाजानुयाजान्यजति।'' भा०श्रौ०, ८.११. ६, पृ० १०९

१०२. मै०सं०, १.१०.१०-१३, का०सं०, ३६.५-६, वा०सं०, ३.४४-४८, श०ब्रा०, २.५.२४७ तै०ब्रा०, १.६.४-५, जै.ब्रा०, ६.३.१२-१५, ता०ब्रा०, १७.१३.६, वैखा०श्रौ०, १९.१४/८.१४, आप०श्रौ०, ८.८.१५, हि०श्रौ०, ९.५, बौधा०श्रौ०, ९.५, पृ० १४०, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६७, भा०श्रौ०, ८.११.८, पृ० १०९, मान०श्रौ०, १.७.५.३६, वारा०श्रौ०, १.७.२.४३, द्रा०श्रौ०, ५.१३.८, लाट्या०श्रौ०, १.५.१.८-१०, श्रौ०प०नि०, पृ० ९८ प० ४९३

१०३. श०ब्रा०, २.५.२.४७, तै०ब्रा०, १.६.४-५, मान०श्रौ०, १.७.५.४२

१०४. श०ब्रा०, २.५.२.४९, ''तत्र न सामगीयते।'' तै०ब्रा०, २.३.६.२, लाट्या०श्रौ० १.५.१.२, हि०श्रौ०, १.१, सत्या०श्रौ०, २.५.२ पृ० ४६७

१०५. भा०श्रौ०, ८.११.९, ''तुषा ऋजीषस्य स्थानं प्रतियन्ति'', सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६८

१०६. यजु०, ३.४८, श०ब्रा०, २.५.२.४६

१०७. श०ब्रा०, २.५.२.४७

१०८. तै०सं०, १.४.४५.२, वैखा०श्रौ०, १९.१४/८.१४, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६७-४६८, आप०श्रौ०, ८.८.१२, कात्या०श्रौ०, ५.५.३०, भा०श्रौ०, ८.११.११

१०९. श०ब्रा०, २.५.२.४७, ''कामं हैतेयस्मै कामयेत तस्मै दद्यात्'', ता०ब्रा०, १७.१३.६, सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६८, आप०श्रौ०, ८.११.१६, भा०श्रौ०, ८.११.१६

११०. वैखा०श्रौ०, १९.१४/८.१४, भा०श्रौ०, ८.११.१३-१४

१११. वैश्वदेव यागवत्

पञ्चम अध्याय

साकमेध पर्व

यह पर्व चातुर्मास्येष्टि के तृतीय पर्व के रूप में अनुष्ठेय है। 'साकमेध' पद साकम् एवं एध इन दो पदों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ एक साथ अथवा एक ही समय प्रज्ज्वलित करना है।[१] इसको साकमेध की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, क्योंकि इस पर्व में प्रथम आहुति अष्टाकपालक पुरोडाश की होती है, जो सूर्योदय के साथ ही अग्नि अनीकवान् को अर्पित की जाती है।[२] साकमेध शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया जाता है, क्योंकि इसमें बहुत सारे कृत्यों एवं आहुतियों की योजना से अग्नि का प्रज्ज्वलन कार्य सम्पन्न होता है।[३]

अनुष्ठान काल

सम्पूर्ण श्रौत वाङ्मय में वरुणप्रघास पर्व के चार मास पश्चात् यह पर्व अनुष्ठेय है।[४] इसके सम्पादन हेतु ऋतु की उपयुक्तता के सम्बन्ध में अनेक मत प्राप्त होते हैं–यथा शरद[५] अथवा हेमन्त[६] नामक दो ऋतुएँ प्राप्त विधानों के अनुसार स्वीकृत हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार साकमेध याग की आहुतियों के द्वारा देवों ने वृत्र को मारकर उस पर विजय प्राप्त किया था, जिसको वे इस समय भोग रहे हैं। इसी उद्देश्य से अभिप्रेरित हो यजमान भी अपने शत्रुओं औषधियों को मारने और उन पर विजय प्राप्त करने के लिए वरुणप्रघास पर्व के चार मास पश्चात् साकमेध पर्व का अनुष्ठान करता है।[७] इस याग के सम्पादन हेतु ऋतुओं के अतिरिक्त समुचित मास और तिथि के सम्बन्ध में दो मत प्राप्त होते हैं। प्रथम मत के अनुसार इस याग का अनुष्ठान कार्तिक मास की प्रतिपदा को किया जाना चाहिए[८] तो दूसरे मत के

अनुसार कार्तिक अथवा मार्गशीर्ष मास की प्रतिपदा तिथि को इसका अनुष्ठान करणीय है।[९]

आचार्य कात्यायन का विचार है कि यदि वैश्वदेव याग चैत्र की पूर्णिमा को अनुष्ठित हो तो साकमेध पर्व मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को अनुष्ठेय होगा।[१०]

देवता एवं द्रव्य

पूर्व विवेचित दोनों पर्वों की भाँति इस पर्व में भी सर्वप्रथम पञ्च सञ्चरों का विधान किया जाता है, जिनके निमित्त विहित देवता एवं द्रव्य अग्रलिखित हैं–

देवता	द्रव्य
१. अग्नि देवता	अष्टाकपालक पुरोडाश
२. सोम देवता	चरु
३. सविता देवता	द्वादश अथवा अष्टाकपालक पुरोडाश
४. सरस्वती देवी	चरु
५. पूषा देवता	चरु

ज्ञातव्य है कि पूर्वलिखित हवियों के अतिरिक्त इस याग की अपनी तीन विशिष्ट हवियाँ भी हैं, जिनके देवता एवं द्रव्य का विवेचन अग्रलिखित हैं–

१. अग्नि अनीकवान् देवता के निमित्त पुरोडाश का विधान

यह साकमेध याग की षष्ठ हवि है, जो पुरोडाशों के रूप में अग्नि अनीकवान् देवता के लिए अर्पणीय है। इसके द्रव्य के निश्चयन में सर्वत्र मतैक्य है। प्राप्त विधानों के अनुसार सभी याज्ञिक ग्रन्थ ''अग्नि अनीकवान् देवता'' के निमित्त प्रथम दिन प्रातःकाल में अष्टाकपालक पुरोडाश को अर्पण करने का विधान करते हैं।[११]

प्रथम दिन 'अनीकवत्' अग्नि के निमित्त अष्टाकपालक पुरोडाश को अर्पित किये जाने के कारण को ब्राह्मणकार ने एक मिथक से स्पष्ट किया है कि ''अग्नि को अनीक (नुकीला) करके ही वृत्र को मारने दौड़े थे, और उस तेज को अग्नि ने छोड़ा नहीं। उसी प्रकार यजमान भी पापी अहितकारी शत्रु को मारने के लिए अग्नि को अनीक

करके दौड़ता है। उस तेज को अग्नि नहीं छोड़ता। इसीलिए अग्नि अनीकवान् के निमित्त अष्टाकपालक पुरोडाशों का विधान है।[१२]

२. सन्तपन मरुत् देवों के लिए चरु का विधान

साकमेध पर्व की सप्तम हवि सन्तपन मरुत् देवताओं के निमित्त अर्पित की जाती है। इसके लिए अर्पणीय द्रव्यों के निश्चयन में सभी यज्ञाचार्यों में मतैक्य है। सभी इसके लिए मध्याह्न काल में 'चरु' अर्पण करने का विधान देते हैं।[१३] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मध्याह्न को यजमान सन्तपन मरुतों के लिए 'चरु' देता है,क्योंकि मध्याह्न की गर्म हवाओं ने वृत्र को झुलसा दिया तथा झुलसकर वह हाँफता हुआ संत्रस्त पड़ा था। इसी प्रकार 'सन्तपन मरुत' उस यजमान के पापी अहितकारी शत्रु को झुलसा देते हैं। इसीलिए सन्तपन मरुतों के लिए 'चरु' अर्पण किया जाता है।[१४]

३. गृहमेधी मरुतों के निमित्त चरु का विधान

इस पर्व की सप्तम हवि गृहमेधी मरुत देवों के निमित्त विहित की गयी है। गृहमेधी मरुतों के लिए अर्पणीय द्रव्यों में यज्ञाचार्यों ने यजमान की सभी गायों के दूध में पके हुए 'चरु' को सायंकाल अर्पित करने का निर्देश दिया है।[१५] आचार्य आपस्तम्ब और कात्यायन ने गृहमेधी मरुतों के 'चरु' के विषय में लिखा है कि यदि दूध में अधिक चावल पकाया गया हो तो पुरोहित पुत्र एवं पौत्र उसका भरपेट प्राशन कर उसी रात्रि में एक ही कोठरी में सो जाते हैं और दरिद्रता एवं क्षुधा सम्बन्धी चर्चा नहीं करते।[१६] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जिस दिन देव वृत्र को मारने जा रहे थे, उसी शाम को देवों ने यही भोजन किया था। इसी से इन्द्र ने विजय भी प्राप्त किया था, इसीलिए यजमान भी पापी एवं अहितकारी शत्रु को मारने के लिए इसी मेध अथवा भोजन को करता है। यह दूध और चावल दोनों को मिलाकर इसलिए बनाते हैं, क्योंकि दूध 'मेध' या शक्तिशाली भोजन है, और चावल भी शक्ति प्रदाता भोजन है। इस प्रकार अपने में दोनों शक्तियों को धारण करने हेतु चावल और दूध के मिश्रण से बने 'चरु' का उपभोग करते हैं।[१७]

उपवसथ दिन के कृत्य

साकमेध पर्व के अनुष्ठान में उपवसथ के दिन अर्थात् चतुर्दशी को तीन अग्रलिखित इष्टियों का सम्पादन किया जाता है–

(क) अनीकवतीयेष्टि

इस पर्व में उपवसथ के दिन सूर्योदय काल में ही सर्वप्रथम अनीकवान् अग्नि के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश से अनीकवती इष्टि सम्पन्न की जाती है।[१८] चरु निर्माण हेतु पूर्व निर्दिष्ट विधि से दूध का प्रयोग किया जाता है। इस पर्व की अपनी यह प्रथम विशिष्ट हवि है, जिसे अनिवार्यतः सम्पादित किया जाता है।

(ख) सान्तपनेष्टि

सान्तपन इष्टि का अनुष्ठान मध्याह्न में सम्पादित किया जाता है। इस इष्टि में सान्तपन मरुतों के लिए 'चरु' अर्पणीय है।[१९] इसमें बर्हि को अग्नि में फेंक दिया जाता है। प्रस्तर एवं परिधियों के अतिरिक्त गृहमेधी इष्टि से सम्बद्ध इध्म और बर्हि को बाँधकर स्थापित किया जाता है, तदनन्तर सभी गायों के दूध से 'चरु' निर्मित किया जाता है।[२०] इसमें इध्मों एवं परिधियों का सन्नहन प्रस्तरों से रहित ही करणीय है।

गृहमेधीयेष्टि

अध्वर्यु इध्मों का आधान कर सभी भागों से अवदान लेकर सायंकाल गृहमेधीयेष्टि का सम्पादन करता है। इस इष्टि में सभी गायों के दूध में पकाया गया 'चरु' गृहमेधी मरुतों को प्रदान किया जाता है।[२१] ज्ञातव्य है कि गृहमेधीय 'चरु' के निमित्त गो दोहन के लिए वत्सापाकरण निर्मन्त्रक ही किया जाता है। वैकल्पिक रूप से गायों के सायंदोहवत् दुहे जाने पर उसी दूध में 'चरु' पकाया जा सकता है। सायंकाल अग्निहोत्र हवन के पश्चात् अग्नि-अन्वाधान, वेद-निर्माण तथा अग्नि-परिस्तरण से प्रारम्भ कर पात्रासादन पर्यन्त सभी कृत्य वैश्वदेव याग की भाँति सम्पन्न किये जाते हैं।[२२] इस इष्टि में इध्म बर्हिराहरण एवं प्रणीता-प्रणयन का सम्पादन निषिद्ध है।[२३] सान्तपनेष्टि के निमित्त स्तीर्ण बर्हि पर ही इस इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है।[२४] तत्पश्चात्

पात्र-संसादन के समय 'चरु' पकाने के निमित्त एक कुम्भी और तीन पात्रियों का अतिरिक्त रूप में आसादन करने का विधान विहित किया गया है।[२५] आचार्य आपस्तम्ब के अनुसार पात्रियों की संख्या यजमान के सम्बन्धियों की संख्या के बराबर होनी चाहिए,[२६] जबकि शतपथ ब्राह्मण के अनुसार केवल दो पात्रियों का आसादन ही करणीय है।[२७]

प्राप्त विधानों के अनुसार इस इष्टि में हविर्निर्वाप के समय गृहमेधी मरुतों के लिए चार मुष्टि ब्रीहि का निर्वपन कर यजुरुत्पूत और अभिमन्त्रित दुग्ध की मात्रा के अनुसार प्रभूत ब्रीहि का आवपन किया जाता है।[२८] कपालोपधान के स्थान पर चरु पकाने हेतु अग्नि पर कुम्भी की स्थापना की जाती है। तदनन्तर तथैव पिष्टोत्पवन के स्थान पर तण्डुलोत्पवन का सम्पादन किया जाता है। इसके अनन्तर के समस्त कृत्य यथा प्रोक्षणी-जल का आसादन, स्रुव और स्रुचों का सम्मार्जन, पत्नी-सन्नहन एवं आज्यग्रहणादि कृत्य वैश्वदेव याग की भाँति सम्पन्न किये जाते हैं।[२९]

आज्य ग्रहण मात्र ध्रुवा में ही करणीय है।[३०] अब ब्रह्मा से अनुज्ञा प्राप्त कर अध्वर्यु द्वारा वेदि का प्रोक्षण किया जाता है तथा प्रोक्षणावशिष्ट जल का आप्यदेवों के निमित्त वेदि में निनयन करने का विधान विहित है। तदनन्तर अध्वर्यु वेदि के मध्य दो विधृतियों के ऊपर प्रस्तर रखकर ध्रुवा और स्रुव की स्थापना करता है।[३१]

अब वैश्वदेव याग की भाँति हवि का उद्वासन करके अध्वर्यु शृत हवि के शर[३२] को सुरक्षित रख लेता है।[३३] तदनन्तर अध्वर्यु उपस्तृत पात्रियों में कुम्भी से ओदन का उद्धरण करता है तथा अभिधारण उत्पवन एवं अलंकरण के पश्चात् उद्धृत ओदनों को वेदि में रखने का निर्देश देता है।[३४] अब यजमान की पत्नी तथा उसके परिवार के अन्य स्त्री तथा बच्चों के लिए अन्वाहार्य पचनाग्नि पर पकाये गये प्रतिवेश-ओदन को दो पात्रों में रखकर तथा प्रभूत आज्य से उसका सिंचन किया जाता है। तदनन्तर इस ओदन को वेदि में स्थापित किया जाता है।[३५]

इस कृत्य के अनन्तर वैश्वदेव याग की भाँति आज्य भागों की आहुतियाँ प्रदेय हैं।[३६] स्मरणीय है कि इस इष्टि में सामिधेनी अनुवचन

आधार आहुतियाँ एवं प्रयाज-यागादि का अनुष्ठान सम्पादन निषिद्ध है।[३७] अध्वर्यु द्वारा आज्य से उपस्तृत स्रुच में सभी ओदन पात्रियों से दो-दो अवदान ग्रहण कर उन्हें आज्य से अभिधारित किया जाता है। तत्पश्चात् पुनः अध्वर्यु आश्रावण, प्रत्याश्रावण के अनन्तर तथा होता द्वारा वषट्कार किये जाने पर गृहमेधी मरुतों के लिए पूर्वलिखित अवदानों की आहुति देता है।[३८] ओदन पात्रियों के उत्तरार्द्ध से एक-एक अवदान ग्रहण कर आहुति दी जाती है। ज्ञातव्य है कि गृहमेधीयेष्टि का अनुष्ठान इडापर्यन्त किया जाता है।[३९] इडा भक्षण के अनन्तर अवशिष्ट ओदन यजमान के सम्बन्धियों को प्रदेय है।[४०] यजमान की पत्नी तथा उसके परिवार की स्त्रियाँ और बच्चे प्रतिवेश-ओदन का प्राशन करते हैं।[४१] अब स्थाली में जो ओदन अवशिष्ट रह जाता है, उसे अन्य ब्राह्मणों को दे दिया जाता है। इसके अनन्तर सभी लोग अपनी-अपनी आँखों में अञ्जन लगाकर अपने को अभ्यंजित करते हैं। तदनन्तर वत्सों को अपनी माताओं (गायों) के साथ रहने के लिए मुक्त कर देने का निर्देश है।[४२] इस रात्रि को सभी लोग एक दूसरे के साथ प्रसन्नता पूर्वक निवास करते हैं। इसके अनन्तर रात्रि के तृतीय प्रहर में अध्वर्यु द्वारा अभिवान्यवत्सा तथा अग्निहोत्री गाय के बछड़े को पृथक्-पृथक् बाँधे जाने का विधान विहित है।[४३]

इन उपानुष्ठानों की प्रक्रियाएँ इस पर्व के निमित्त अनिवार्यतः विहित हैं। इनके सम्पादन के साथ ही इस दिवस के कृत्यों की सम्पन्नता होती है। तदनन्तर मुख्य यजन सम्बन्धित कृत्य सम्पादित किये जाने के उपक्रम विहित हैं, जिसे अगले दिन पूर्ण किया जाता है।

यजनीय दिन के कृत्य

यह दिन मुख्य यजन का दिवस है, जो पूर्णिमा का दिन होता है। अतः अध्वर्यु द्वारा पूर्णमासी के दिन प्रातःकाल अग्निहोत्र अनुष्ठान के पूर्व स्रुव को पूर्णरूपेण भरकर गार्हपत्य में इन्द्र के लिए ऋषभ का आह्वान कर सर्वप्रथम दर्व्यहोम का अनुष्ठान किया जाता है।[४४] शतपथ ब्राह्मण में इस कृत्य का सम्पादन अग्निहोत्र के पूर्व अथवा पश्चात् अध्वर्यु की इच्छा के अनुसार किये जाने का सविकल्प विधान किया गया है।[४५]

(क) पूर्ण दर्व्य होम

यजनीय दिवस के कृत्यों में सर्वप्रथम पूर्णदर्व्यहोम करणीय है। इसके देवता इन्द्र हैं, जो कि ऋषभ के रूप में आकर आहुति ग्रहण करते हैं।[४६] अध्वर्यु पूर्ण दर्व्य होम के निमित्त उपस्तृत दर्वी को पहले से ही सुरक्षित रखे गये शर, कुम्भी के निष्कास तथा दर्वी के लेप से अभिपूरित कर दो बार आज्य से अभिधारित करता है।[४७] तदनन्तर अध्वर्यु–

''पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत।
वस्नेव विक्रीणा वहाऽइषमूर्जशतक्रतो।''[४८]

इस यजुष् के विनियोग से इन्द्र देवता को आमन्त्रित करता है।[४९] अब अध्वर्यु ऋषभ को आनयन हेतु यजमान को प्रैष देता है।[५०] इसके अनन्तर यजमान द्वारा वहाँ खड़ा किये गये बैल के निनाद करने पर अध्वर्यु उसे दर्वी के हवि की गार्हपत्याग्नि में–

''देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा।।''[५१]

इस मन्त्र के विनियोग द्वारा आहुति देता है।[५२] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अध्वर्यु वृत्र के वध हेतु इन्द्र को ऋषभ के रूप में बुलाता है।[५३] ज्ञातव्य है कि यदि बैल शब्द न करे तो दक्षिण में बैठे हुए ब्रह्मा को ही जुहुधि (हिंकार) करना चाहिए।[५४] इसी ब्राह्मण में ब्रह्मा द्वारा उच्चारित जुहुधि को इन्द्र की वाणी के रूप में रूपायित किया गया है।[५५] इस इष्टि में शब्द न करने वाला बैल अर्पणीय है।[५६] अब प्रातरग्निहोत्र किया जाता है।

(ख) क्रीडनीयेष्टि

प्रातःकाल अग्निहोत्र के पश्चात् उदीयमान सूर्यकाल में क्रीडवान् मरुतों तथा स्वतवन्त मरुतों (सूर्य की रश्मियों) के लिए क्रीडनीया इष्टि की जाती है। इसमें रश्मियों के विकीर्ण हो जाने पर सप्त कपालक पुरोडाश अर्पित किया जाता है।[५७] शतपथकार के अनुसार–''जब इन्द्र वृत्र को मारने गया तो मरुत् उसके चारों ओर खेलते थे और उसकी प्रशंसा करते थे। ऐसे ही यजमानो के चारों ओर प्रशंसा करते हुए

खेलते हैं," क्योंकि वह अपने दुष्ट और अहितकर शत्रु को मारने जा रहा है, इसलिए मरुतों के निमित्त यह आहुति दी जाती है।[५८]

(ग) महाहविष् याग

अब क्रीडनीयेष्टि के अनन्तर महाहविष् याग के अनुष्ठान का विधान विहित किया गया है। इस याग में पञ्च सञ्चर आहुतियों के अतिरिक्त इसकी अपनी तीन विशिष्ट आहुतियाँ देवताओं के निमित्त प्रदेय है, जिनके देवता एवं द्रव्य का विधान अग्रलिखित है–

१. ऐन्द्राग्न देवता के निमित्त पुरोडाशों का विधान

महाहविष् याग की षष्ठ हवि ऐन्द्राग्न देवता के निमित्त पुरोडाशों के रूप में प्रदेय है। इसके लिए अर्पणीय द्रव्य के सम्बन्ध में दो मत प्राप्त होते हैं–प्रथम मत के अनुसार ऐन्द्राग्न देवता के निमित्त एकादश कपालक पुरोडाशों का अर्पण किया जाना चाहिए[५९] तथा दूसरे मत से इसके निमित्त द्वादश कपालक पुरोडाशों के अर्पण का विधान है।[६०]

२. इन्द्र देवता के लिए चरु का विधान

इस याग की सप्तम हवि इन्द्र देवता के लिए विहित की गयी है। सभी आचार्य इस देवता के लिए 'चरु' अर्पण करने का विधान प्रस्तुत करते हैं।[६१] इस सम्बन्ध में मतभेदों का सर्वथा अभाव है, यद्यपि कात्यायन और आश्वलायन श्रौताचार्य इन्द्र को माहेन्द्र नाम से 'चरु' अर्पित करने का विधान देते हैं,[६२] तथापि इससे इस याग की मत-भिन्नता का प्रतिपादन नाममात्र का भी नहीं होता।

३. विश्वकर्मा देवता के निमित्त पुरोडाश का विधान

यह महाहविष् याग की अष्टम हवि है, जो पुरोडाश के रूप में विश्वकर्मा देवता के लिए अर्पणीय है। प्राप्त विधानों के अनुसार विश्वकर्मा देवता के निमित्त प्रदेय हवि के रूप में एक कपालक पुरोडाश है।[६३] महाहविष्याग की आनुष्ठानिक प्रक्रिया प्रायः वरुणप्रघास पर्व की भाँति ही है। इस याग में वेदि का निर्माण वरुणप्रघास पर्व की उत्तर वेदि के समान करणीय है। इसमें दक्षिण वेदि का निर्माण तथा आमिक्षा सम्बन्धी अनुष्ठान का निषेध है। इसके अनन्तर ऐन्द्राग्न हवि का पृथक् अवहनन करने एवं अवभृथ हेतु उसके तुषों को सुरक्षित

रख लिया जाता है। इसमें विश्वकर्मा देवता के निमित्त एक कपालक पुरोडाश की आहुति प्रदान करने के अनन्तर अध्वर्यु को चार मासों के नामों से युक्त चार मन्त्रों द्वारा आज्य की आहुतियाँ देने का विधान है।[६४]

इस याग में प्रदेय दक्षिणा के सम्बन्ध में तीन मत प्राप्त होते हैं। प्रथम मत के अनुसार एक बैल,[६५] दूसरे मत से अनुसार एक गाय[६६] तथा तृतीय मतानुसार प्रथमोत्पन्न वत्स दक्षिणा-स्वरूप प्रदेय है।[६७] याग के अन्त में सुरक्षित रखे गये ऐन्द्राग्नि हवि के तुषों द्वारा अवभृथ कृत्य को सम्पन्न करने का विधान है।[६८]

महापितृयाग

महाहविष् याग के अनन्तर महापितृयाग के अनुष्ठान का सम्पादन किया जाता है। इस याग में तीन संचर हैं-एतदर्थ जो आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं, उनका विवेचन अग्रलिखित है-

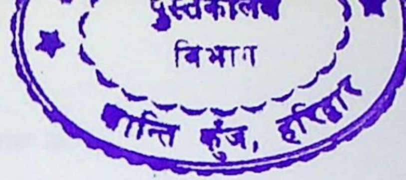
१. पितृमान सोमदेवता के लिए पुरोडाश का विधान

यह इस याग की प्रथम हवि है, जो पितृमान सोम देवता के निमित्त प्रदेय है। इसके निमित्त प्रदेय हवियों के सन्दर्भ में दो मत प्राप्त होते हैं। प्रथम मत के अनुसार पितृमान सोम देवता के निमित्त षट्पालक पुरोडाशों[६९] तथा दूसरे मतानुसार पुरोडाशों के स्थान पर आज्य की आहुति की अर्पित की जाती है।[७०]

इस अनुष्ठान में षट्कपालक पुरोडाश ही क्यों अर्पणीय है, इस सम्बन्ध में शतपथकार का विचार है कि षट् ऋतुएँ ही पितर हैं, इसलिए पितृमान सोम देवता के निमित्त षट्कपालक पुरोडाश अर्पणीय है।[७१]

२. बर्हिषद् पितर देवताओं के लिए धाना का विधान

इस याग की द्वितीय हवि बर्हिषद् पितर देवों के निमित्त अर्पित की जाती है। बर्हिषद् पितर देवों के लिए अर्पणीय द्रव्य के निश्चयन में दो मत प्राप्त होते हैं। प्रथम मत के अनुसार बर्हिषद् पितरों को 'धाना' की हवि प्रदान की जाती है,[७२] जो कि आधा पीसा हुआ तथा



आधा बिना पीसा हुआ भूने जौ से निमित होता है।[७३] दूसरे मत से एतदर्थ प्रदत्त किये जानेवाले धाना के स्थान पर षट्कपालक पुरोडाश अर्पणीय है।[७४]

३. अग्निष्वान्त पितर देवों के निमित्त 'मन्थ' का विधान

इस याग की तृतीय हवि अग्निष्वान्त पितर देवताओं के निमित्त विहित की गयी है। इस देवता के लिए अर्पणीय द्रव्य में भी दो मत प्राप्त होते हैं। प्रथम मत के आधार पर अग्निष्वान्त पितर देवों को 'मन्थ' अर्पण करने का विधान है।[७५] ज्ञातव्य है कि पिसे हुए धानों में अभिवान्यवत्सा[७६] के दूध को मिलाकर और एक शलाका से एक ही बार हिलाकर निर्मित किये गये पदार्थ को 'मन्थ' कहते हैं।[७७] क्योंकि पितर एक बार ही परलोक गये, इसलिए एक ही बार चलाते हैं। द्वितीय मत के अनुसार अग्निष्वान्त पितर देवों के लिए अर्पणीय द्रव्य 'मन्थ' के स्थान पर 'धाना' की हवि प्रदान की जाती है।[७८]

पूर्वलिखित तीन देवताओं के अतिरिक्त आश्वलायन और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में एक और चौथे 'यम' देवता के निमित्त भी इस याग में हवि अर्पणीय है।[७९] इन श्रौताचार्यों के अनुसार इस चौथे देवता 'यम' के निमित्त 'मन्थ' द्रव्य हवि के रूप में प्रदेय है।[८०]

अनुष्ठान विधि

सर्वप्रथम प्रस्तर के अतिरिक्त बर्हि को जड़ से काटा जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु प्रभूत इध्म एवं बर्हि को बाँधकर दोनों को पश्चिमी अग्नियों के दोनों ओर बिछाकर प्राशित्रहरण के अतिरिक्त अन्य पात्रों को एक-एक करके स्थापित करता है। ज्ञातव्य है कि दक्षिणाग्नि के दक्षिण पूर्व में प्रणीता को रखने का विधान है।[८१] इसे दक्षिणाग्नि पर गर्म किया जाता है। दक्षिणाग्नि के दक्षिण पूर्व में चार अरत्नि अथवा यजमान की लम्बाई के बराबर समचुरश्रा एक वेदि का निर्माण किया जाता है, जिसके चारों कोण चारों दिशाओं में होते हैं।[८२] अध्वर्यु द्वारा वेदि के उत्तरी कोण में एक द्वार बनाकर उसे चारों ओर से परिश्रित किया जाता है।[८३]

इसके अनन्तर दक्षिणाग्नि से अङ्गारों को लाकर वेदि के मध्य

आहवनीयाग्नि के रूप में स्थापना करता है।[84] अग्नि के अन्वाधानादि के अनन्तर पिण्डपितृयज्ञवत् समूह बर्हि और इध्म का आहरण किया जाता है। स्मर्तव्य है कि महापितृयज्ञ में प्रयुक्त होने वाले इध्म सामान्य इध्मों की अपेक्षा बड़े परिमाण में होने चाहिए। इध्मों के साथ दो या तीन परिधियों का भी सन्नहन करने का विधान है।[85] इसके अनन्तर पांत्रासादन के समय अध्वर्यु को प्रोक्षणी, कुम्भ, इक्षु, शलाका वारण पात्र अथवा शराब तथा अन्य आवश्यक पात्रों की वेदि में स्थापना की जाती है। इस याग में हविर्निर्वाप तक के कृत्य प्रकृतिवत् सम्पादित किये जाने के सर्वत्र निर्देश प्राप्त होते हैं।

अब अध्वर्यु द्वारा प्राचीनावीती होकर शकट के दक्षिण की ओर से अथवा यज्ञोपवीती होकर उत्तर की ओर यवों का निर्वपन किया जाता है।[86] पूर्वलिखित इस याग की तीनों हवियाँ यव की होती हैं तथा हवि निर्माण के लिए प्रोक्षणी जल से आर्द्र किये गये यवों का अवहनन, फलीकरण और पेषण अध्वर्यु अथवा आग्नीध्र द्वारा किया जाता है। पितृमान सोम देवता के निमित्त षट्कपालक पुरोडाशों का श्रपण गार्हपत्याग्नि से दक्षिण की ओर[87] उद्धृत अङ्गारों पर तथा धाना के लिए यवों का मार्जन दक्षिणाग्नि पर स्थापित किये किये कपाल में किया जाता है।

अब अधिश्रित हवियों के उद्वासन के अनन्तर 'धाना' के अर्द्धभाग से मन्थ[88] तैयार करने का विधान विहित है।[89] वेदि के उत्तर परिग्राह के अनन्तर अन्य सभी कृत्य प्रकृतिवत् सम्पादित किये जाते हैं। आज्य ग्रहण के समय गार्हपत्याग्नि के उत्तर की ओर सभी स्रुचों में चतुर्गृहीत आज्य का ग्रहण किया जाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि उपभृत में दो बार आज्य ग्रहण करने का विकल्प है।[90] इस याग में पत्नी-सन्नहन, वेदि में यजमान-पत्नी का आसीन होना तथा यजनकृत्य में भाग लेना निषिद्ध है।

इसके अनन्तर अध्वर्यु बर्हि के अग्रभाग को पकड़कर वेदि का स्तरण तथा प्राचीनावीत होकर स्तरण करते हुए तीन बार प्रसव्यक्रम से वेदि के चारों ओर परिक्रमा करता है। तत्पश्चात् पुनः यज्ञोपवीती होकर स्तरण न करते हुए तीन बार प्रदक्षिणा क्रम में घूमता है। इस

याग में दो या तीन परिधियों का आधान किया जाता है।[११]

तदनन्तर वेदि में विधृतियों को स्थापित किये विना प्रस्तर को निर्मन्त्रक स्थापित करने का विधान विहित है।[१२] वेदि स्तरण के अनन्तर अध्वर्यु दक्षिणाग्नि से एक उल्मुक लेकर गार्हपत्याग्नि के पश्चिम से होते हुए आहवनीयाग्नि के अग्रभाग की ओर आता है तथा उस उल्मुक को वेदि के मध्य आहवनीय के दक्षिण की ओर स्थापित करता है। अलंकरण के पश्चात् आज्य युक्त स्रुचों और हवियों[१३] का वेदि में आसादन एवं पुरोडाशों को वेदि के दक्षिण की ओर, धाना[१४] को मध्य में तथा मन्थ को उत्तर की ओर स्थापित किया जाता है। इन हवियों के दक्षिण की ओर परिश्रव्या हेतु वस्त्र का एक टुकड़ा, तोशक, तकिया, काजल, अभ्यंजन, स्फ्य तथा जल से भरा एक कुम्भ स्थापित किया जाता है।[१५] इसके अनन्तर सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करते हुए होता ''उशन्तस्त्वा हवामहे", ऋचा का तीन बार उच्चारण करता है तथा अध्वर्यु तीन भागों में विभक्त इध्मों को 'प्रणव' के उच्चारण के समय अग्नि में डालता है।[१६] ध्यातव्य है कि अध्वर्यु को अनुयाज के लिए एक समिधा बचा लेनी चाहिए। तदन्नतर अग्नि सम्मार्जन तक के कृत्य प्रकृतिवत् सम्पादित किये जाते हैं।

महापितृ याग में यजमान के प्रवरों का उच्चारण तथा होता का वरण करणीय है। इस याग में केवल चार प्रयाज आहुतियाँ प्रदेय हैं। स्मरणीय है कि बर्हि देवता के निमित्त प्रयाज आहुति का विधान निषिद्ध है।[१७] दो आज्य भागों की आहुति के अनन्तर सभी लोग प्राचीनावीती हो जाते हैं। इस समय ऋत्विजों, आज्ययुक्त स्रुचों और हवियों के स्थानों में परिवर्तन किया जाता है। ब्रह्मा और यजमान आहवनीय के उत्तर की ओर तथा अन्य लोग दक्षिण की ओर चले जाते हैं। जुहू के दक्षिण की ओर उपभृत तथा उपभृत के दक्षिण की ओर ध्रुवा की स्थापना की जाती है। तथैव पुरोडाश के दक्षिण में धाना तथा धाना के दक्षिण में मन्थ स्थापित कर दिया जाता है।[१८]

इस प्रकार इस याग की प्रतिषिद्ध एवं विधेय आहुति का विधान और ऋत्विजादि के स्थानों में परिवर्तनादि कृत्य अनिवार्यतः करणीय

हैं। इसी के साथ इस याग का प्रधान याग अनुष्ठेय है, जिसकी विधि अग्रांकित है–

प्रधान याग

प्रधान याग का अनुष्ठान अध्वर्यु द्वारा किया जाता है। इस याग में मन्त्रों का उच्चारण उपांशु स्वर में करने का विधान है। अध्वर्यु पंचवत्तिन् यजमान के निमित्त छः अवदान तथा चतुर्वत्तिन् यजमान के लिए पाँच अवदान ग्रहण करता है। वह तीनों हवियों से अवदान ग्रहण करता है। अध्वर्यु द्वारा तीनों हवियों से अवदान ग्रहण करके क्रमशः एक-एक देवता को आहुति प्रदान की जाती है।

एतदर्थ ध्यातव्य है कि जिस देवता को हवि अर्पित करना होता है, उस देवता से सम्बन्धित हवि द्वारा सर्वप्रथम अवदान ग्रहण किया जाता है। यथा–यदि यजमान पञ्चवत्तिन् हो तो दो अवदान लिया जाता है। तदनन्तर शेष दो हवियों द्वारा अवदान ग्रहणीय है। अब अध्वर्यु पितृमान सोमदेवताक आहुति के निमित्त जुहू का उपस्तरण करके सर्वप्रथम पुरोडाश से अवदान ग्रहण करता है। तत्पश्चात् धाना और मन्थ से एक-एक अवदान ग्रहण करके उन्हें अभिधारित किया जाता है। आश्रावण-प्रत्याश्रावण के अनन्तर वषटकार किये जाने पर हवि अर्पित करने का निर्देश है। श्रौतसूत्रों में उपश्रावण को 'आस्वधा' या 'स्वधा' कहकर प्रत्याश्रावण को 'अस्तु स्वधा' अथवा 'स्वधा' कहकर तथा वषटकार को स्वधानमः कहकर सम्पूरित करने का विधान विहित है।[९९] पितरों तथा अन्य देवताओं से सम्बद्ध हवियों को अर्पित करने की भी यही विधि है। प्रधान आहुतियों के अनन्तर अध्वर्यु द्वारा जुहू का उपस्तरण करके तीनों हवियों के दक्षिणार्द्ध से एक-एक अवदान ग्रहण किया जाता है तथा उसका दो बार अभिधारण करके स्विष्टकृत आहुति के रूप में हवन करने का विधान है।[१००]

पूर्वलिखित विधि द्वारा मेक्षण और इक्षुशलाका को भी अग्नि में डाल दिया जाता है। अब सभी लोग यज्ञोपवीती होकर यथा पूर्व अपने-अपने स्थानों में परिवर्तन करते हैं। ज्ञातव्य है कि आज्यों और हवियों के स्थानों में भी परिवर्तन कर दिया जाता है। स्मरणीय है

कि इस याग में प्राशित्रावदान का निषेध किया गया है। इडा अवदान मन्थ से ही लिया जाता है। उपहूत इडा का घ्राण करके भक्षण करने का विधान है।[१०१] अब तीनों हवियों के अवशिष्टांशों को पात्री में मिश्रण करके तीन पिण्डों का निर्माण किया जाता है। उन्हें क्रमशः यजमान के षष्ठ, पंचम और चतुर्थ पितरों के नाम निर्देश के साथ पैतृक वेदि के पूर्व दक्षिण और पश्चिम कोणों में स्थापित कर दिया जाता है।[१०२] उत्तरी कोण में लेप का निमार्जन किया जाता है। अब सभी लोगों के द्वारा उत्तर की ओर जाकर आहवनीय और गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है। इस समय यजमान जलकुम्भ लेकर तीन बार प्रसण्यक्रम से परिसिंचन करते हुए वेदि के चारों ओर परिक्रमा करता है। इसके अनन्तर उस जल कुम्भ को रखकर तीन बार विपरीत क्रम[१०३] में परिसिंचन करते हुए वेदि की परिक्रमा करने का विधान है।[१०४]

इसके अनन्तर इस याग में अंजनादि कर्मों को पिण्ड पितृयज्ञवत् सम्पादित कर परिश्रित को पृथक् कर दिया जाता है। अब परिधियों को यथा पूर्व स्थापित कर सभी लोग यज्ञोपवीती हो जाते हैं। इसमें बर्हि देवताक अनूयाज आहुतियाँ निषिद्ध हैं।[१०५] अब अध्वर्यु दोनों स्रुचों का आसादन करके उन्हें वाजवती ऋचाओं से पृथक् कर देता है। इस समय होता सूक्तवाक् का पाठ करता है। इस कृत्य का समापन शंयुवाक् से किया जाता है।[१०६] इस याग में पत्नी संयाज तथा समिष्ट यजुष् आहुतियाँ निषिद्ध हैं।[१०७] अब वेदि से पात्रों के युग्मों को हटा लिया जाता है। इस याग के अन्य कृत्य प्रकृतिवत् सम्पादित किये जाते हैं।

त्र्यम्बकेष्टि[१०८]

इस याग में महापितृयाग के अनन्तर त्र्यम्बकेष्टि के अनुष्ठान का सम्पादन किया जाता है। इस इष्टि के एक मात्र देवता रुद्र हैं। इस सम्बन्ध में ऐसी धारण विकसित रही है कि उत्पन्न हुई तथा उत्पन्न होने वाली सभी सन्तानें रुद्र देवता के पाश में होती है, जिन्हें मुक्त कराने के लिए रुद्र को सुमनस करना पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो सन्तान उत्पन्न हो चुकी है तथा जो उत्पन्न होने वाली

है, दोनों को रुद्र के पाश से मुक्ति हेतु एवं उनके निरोग और दोष मुक्त होने की कामना से यह इष्टि अनुष्ठेय है।[109]

रुद्र देवता के निमित्त पुरोडाश का विधान

त्र्यम्बकेष्टि में रुद्र देवता के लिए प्रदेय हवियों में पुरोडाश का विधान विहित है। एतदर्थ आचार्यों में मतैक्य है। सभी आचार्य इस देवता के लिए एक कपालक पुरोडाश अर्पण करने का निर्देश देते हैं।[110] ध्यातव्य है कि पुरोडाशों की संख्या यजमान के परिवार के सदस्यों की संख्या से एक अधिक होनी चाहिए।[111] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार एक देवता के लिए ही प्रदेय हवि होने के कारण एक कपालक पुरोडाश की आहुति प्रदान की जाती है।[112] यजमान के परिवार के सदस्यों से एक अधिक पुरोडाश का निर्माण इसलिए किया जाता है, क्योंकि जितने यजमान-परिवार के सदस्य हैं, उतने पुरोडाशों से उत्पन्न हुई सन्तान को रुद्र के वश से छुड़ाया जाता है तथा जो एक पुरोडाश यजमान परिवार से अधिक है, उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान को रुद्र के पाश से छुड़ाने का विधान है।[113]

अनुष्ठान-विधि

इस इष्टि में हवि के निमित्त ब्रीहि के निर्वपन के पश्चात् अध्वर्यु गार्हपत्य से उत्तर की ओर अंगारों को निकालकर उन पर पुरोडाशों को अधिश्रित करता है। "उत्तर की दिशा को देवों की दिशा की मान्यता प्राप्त है, इसलिए उत्तर की दिशा में पुरोडाश अधिश्रित किये जाते हैं।[114] इस इष्टि में पुरोडाशों का अभिधारण निषिद्ध है।[115] क्योंकि पुरोडाशों के अभिधारण से रुद्र यजमान के पशुओं के पीछे पड़ जाता है, इसलिए पुरोडाशों के अभिधारण का निषेध है।[116] हवियों के उद्वासन के अनन्तर अध्वर्यु पुरोडाशों को एक बड़े पात्र में रखकर एवं दक्षिणाग्नि से एक उल्मुक लेकर गार्हपत्य के पश्चिम से होते हुए उत्तर-पूर्व की ओर प्रस्थान करता है। अध्वर्यु के साथ यजमान और उसके सम्बन्धी भी रहते हैं। गमन के समय अध्वर्यु द्वारा मार्ग में ही–"एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः" इत्यादि मन्त्र विनियोग के साथ एक पुरोडाश को चूहे के बिल में रखने का विधान विहित है।[117]

तदनन्तर किसी चतुष्पथ पर आहुति देने का विधान है। शतपथकार के अनुसार चतुष्पथ ही रुद्र का प्राचीन स्थान है, इसलिए चतुष्पथ पर आहुतियाँ दी जाती हैं।[११८] तदनन्तर वहीं पर उल्मुक की स्थापना करके उसका उपसमिन्धन और परिस्तरण किया जाता है।[११९]

अब अध्वर्यु द्वारा पलाश-पर्ण पर समस्त पुरोडाशों के उत्तरार्ध से एक-एक अवदान ग्रहण करके उस अग्नि में रुद्र के निमित्त निर्मन्त्रक आहुति देने का विधान है।[१२०] इस अवसर पर सभी लोगों द्वारा अग्नि का उपस्थान किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पलाश ब्रह्म है।[१२१] अतएव ब्रह्म के द्वारा ही आहुति देने का निर्देश विहित है।

इसके अनन्तर यजमान-कुटुम्ब के सभी सदस्य अपने-अपने पुरोडाशों को लेते हैं। यजमान की पतिकामिनी पुत्री ऋत्विजों के साथ चारों ओर परिक्रमा करती हैं।[१२२] तत्पश्चात्–

''अव रुद्र महीमह्य व देव त्र्यम्बकम्।
यथा नो वस्य सस्करद यथा नः श्रेयस्करद् यथा नो व्यवसायात्॥
भेषजमसि भेषजं गवे श्वाय पुरुषाय भेषजम्।
सुखं मेषाय मेष्ये॥''[१२३]

इस मन्त्र को ऋत्विज् जपते हैं। तदनन्तर वे तीन बार वेदी के चारों ओर प्रसव्यक्रम से बायीं जंघों को पीटते हुए अग्रलिखित यजुष् का पाठ करते हैं–

''त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥''[१२४]

इसी मन्त्र विनियोग के साथ परिक्रमा भी करते हैं। अब कुमारियों को इस यजुष्–**''त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं प्रतिवेदनम्।''**

''ऊर्वारुकमिव बन्धनानदितो मुक्षीय मामृतः।'' के विनियोग के साथ वेदी की परिक्रमा करने का विधान है।[१२५] तदनन्तर वे पुनः वेदी के चारों ओर प्रदक्षिण क्रम से अपने-अपने दाहिने जंघों को पीटते हुए उसी मन्त्र के साथ परिक्रमा करते हैं।[१२६] ब्राह्मणकार के अनुसार ऐसा करने से उनके दक्षिण की ओर के कार्य सिद्ध होते हैं, अतएव वे दक्षिण की ओर से भी परिक्रमा करते हैं।[१२७] इसके अनन्तर प्रत्येक व्यक्ति[१२८] अपने पुरोडाश को उछालकर पकड़ने का प्रयास करता है।[१२९]

उसे वे सब यजमान की पतिकामिनी पुत्री तक फेंकते हैं।[130] ध्यातव्य है कि पुरोडाशों को उछालने के अनन्तर उत्तर की ओर स्थित यजमान की अंजलि में रख देना चाहिए।[131] यही क्रिया द्वितीय और तृतीय पर्याय में की जाती है। तृतीय पर्याय में पुरोडाशों को पत्नी की अंजलि में तथा पत्नी पतिकामा दुहिता की अंजलि में रख देने का विधान है।[132]

इसके अनन्तर इन पुरोडाशों को एक बड़ी टोकरी में रखकर एवं उस टोकरी का जल से परिसिंचन कर सभी लोग विना पीछे देखे हुए वापस आते हैं। अब हस्तपाद प्रक्षालन के अनन्तर वे सभी गोशाला में आकर अपना मार्जन करते हैं। क्योंकि जल शान्ति है, इसलिए शान्ति रूपी जल से वे लोग अपने को पवित्र करते हैं।[133] तदनन्तर आहवनीय में उन्हें समिधा का आधानकर उसका उपस्थान करने का विधान है।[134] यजमान-पत्नी द्वारा यही कृत्य गार्हपत्याग्नि के सम्बन्ध में किया जाता है। इस इष्टि में दक्षिणा स्वरूप एक ऋषभ प्रदेय है।[135] इसके संस्थित होने पर आदित्येष्टि का अनुष्ठान करणीय है, जिसे सभी याज्ञिक ग्रन्थों ने अनिवार्यतः अनुष्ठेय घोषित किया है।

आदित्येष्टि[136]

यह साकमेध पर्व की अन्तिम इष्टि है। इसी को सम्पन्न करके साकमेध पर्व के अनुष्ठान का समापन किया जाता है। इस इष्टि के एक मात्र देवता ''अदिति'' है, जिनके लिए हवि अर्पित की जाती है। प्राप्त विधानों के आधाार पर अदिति देवता के निमित्त प्रदेय हवि का सामान्य विधान अग्रलिखित है–

अदिति देवता के निमित्त चरु का विधान

इस इष्टि में अदिति देवता के निमित्त अर्पणीय द्रव्य के सम्बन्ध में मत-मतान्तरों का अभाव प्राप्त होता है। सभी श्रौताचार्य आदित्येष्टि में अदिति देवता के लिए एकमात्र घी में पकाये गये 'चरु' को अर्पण करने का विधान प्रस्तुत करते हैं।[137] वैखानस श्रौतसूत्र में इस सम्बन्ध में विष्णु के लिए 'चरु' का विधाान प्राप्त होता है।[138] इस याग में श्वेत अश्व अथवा गौ दक्षिणा के रूप में प्रदेय हैं।[139]

इसके अनन्तर द्वितीय दिवस के सूर्योदय काल में पूर्णमासेष्टि का

सम्पादन किया जाता है। इस इष्टि के अन्त में केशों का उन्दन, निवर्तनादि कृत्य प्रकृतिवत् सम्पादित किये जाते हैं। इस प्रकार इस याग का सम्पादन सम्पन्न होता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साकमेध याग चातुर्मास्य इष्टि का एक प्रमुख पर्व है, जिसके अनुष्ठान विधान के माध्यम से यजमान को ऐहिक एवं आमुष्मिक द्विविध फलों की प्राप्ति सम्भव है। ऐहिक फलों में उसे लोक प्रसिद्धि एवं सन्तानादि की प्राप्ति तथा दैहिक एवं दैविक प्रकोपों से मुक्ति मिलती है तथा आमुष्मिक कांक्षा-पूर्ति में तो सम्पूर्ण चातुर्मास्य याग का योगदान सर्वदा स्वीकार्य रहा है। इस पर्व की आनुष्ठानिक प्रक्रिया सभी शाखाओं एवं प्रशाखाओं में यत्किंचित् भिन्नताओं को छोड़कर समान रुप में ही निर्दिष्ट है, जिसे शाखानुसार अनुष्ठानार्थ प्रयुक्त करना चाहिए।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. तै०सं०, १.८.४-६, मै०सं०, १.१०.२-४, १.१०.१, १.१०.१४-२०, का०सं०, ९.५-७, कपि०सं०, ८.८-१०, वा०सं०, ३.४.९-६१, श०ब्रा०, २.५.३.१-४, २.६.१-३, २.७.४-६, का०श०ब्रा०, १.५.१.६.१, २.४, शां०ब्रा०, ५.५-६, गो०ब्रा०, २.४.२३-२५, तै०ब्रा०, १.६.६-१०, १.५.५, १.४.१०, ता०ब्रा०, १७. १३.१२, वैखा०श्रौ०, २०.१-१२, बौधा०श्रौ०, ५.१०-१६, भा०श्रौ०, ८.१२. १, पृ० १०९, आप०श्रौ०, ८.९.१९, सत्या०श्रौ०, २.५.३.५, ६, ८, पृ० ४६८-४६९, मान०श्रौ०, १.७.५-७, ५.२.१५.३१, वारा०श्रौ०, १.६.५.४, कात्या०श्रौ०, ५.२.८, ५.६.१०, लाट्या०श्रौ०, ५.१.११-५, ५.३.१५, द्रा०श्रौ०, १३.१.१३-१३, ३.१०, वैता०श्रौ०, १.९.१-२३, आश्व०श्रौ०, २.२०.२

२. तै०सं०, १.८.४, ''अग्नये अनीकवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति साकं सूर्येणोद्यता...। तै०ब्रा०, १.६.६-१०, मै०सं०, १.१०.१, का०सं० ९.४, बौधा०श्रौ० ५.९, आप०श्रौ०, ८.९.२, भा०श्रौ०, ८.१२.२, पृ० १०९, सत्या०श्रौ०, २.५. ३, पृ० ४६९, द्र० पी०वी० काणे, हि०ध०शा० २.२, पृ० ११००

३. कात्या०श्रौ०, ५.६.१, पृ० ४८८ की व्याख्या

४. श०ब्रा०, २.५.३.१ ''अथैतैः साकमेधैः...एतैश्चतुर्थेमासियजते।'' ता०ब्रा०, १७. १३.१२, बौधा०श्रौ०, ५.१० पृ० १४१, मान०श्रौ०, १.७.५, भा०श्रौ०, ८.१२. १, पृ० १०९, वारा०श्रौ०, १.७.३.१

५. आप०श्रौ०, ''शरदि साकमेधैरिति विज्ञायते।''

६. जै०ब्रा०, ११.२.१२, ''हेमन्ते साकमेधैर्यजते।''

७. श०ब्रा०, २.५.३.१

८. तै०ब्रा०, १.४.९, ''कार्तिक्यां पौर्णमास्यां...।'' वैता०श्रौ०, ८.९.१, ''कार्तिक्यां साकमेधाः।'' कात्या०श्रौ०, ५.५.१, पृ० ४८८, शां०श्रौ०, ३.१५.१, मान०श्रौ० १.७.५.१

९. सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४६८, ''ततश्चतुर्षु मासेषु कार्तिक्यां मार्गशीर्ष्याद्वय्हं साकमेधैर्यजते।'' वैखा०श्रौ०, २०.१/९.१

१०. कात्या०श्रौ०, ५.११.१-२

११. तै०सं०, १.८.४, ''अग्नयेऽनीकवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति साकं सूर्येणोद्यता।'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.५, तै०ब्रा०, १.६.६-१०, श०ब्रा०, २.५.३.२, ता०ब्रा०, १७.१३.१३, जै०ब्रा०, ५.१.१९, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४६९, कात्या०श्रौ०, ५.६.२, पृ० ४८८, भा०श्रौ०, ८.१२.२, पृ० १०९, मान०श्रौ०, १.७.५.२, वारा०श्रौ०, १.७.३.३, पृ० ६६, बौधा०श्रौ०, ५.१०, पृ० १४१, वैखा०श्रौ०, २०.१/९.१, आप०श्रौ०, ८.९.२, वै०को०, पृ० ३९६

१२. श०ब्रा०, २.५.३.२

१३. तै०सं०, १.८.४, ''मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुम्'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.५, श०ब्रा०, २.५.३.३, तै०ब्रा०, १.६.६-१०, भा०श्रौ०, ८.१२.५, पृ० ११०, मान०श्रौ०, १.७.५.६, बौधा०श्रौ०, ५.१०, पृ० १४.१, वारा०श्रौ०, १.७.३.३, पृ० ६६, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४६९, कात्या०श्रौ०, ५.६.३, पृ० ४८९. वै०को०, पृ० ३९६

१४. श०ब्रा०, २.५.३.३

१५. तै०सं०, १.८.४-६, ''मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायं चरुम्।'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.५-६, श०ब्रा०, २.५.३.४, तै०ब्रा०, १.६.६-१०, जै०ब्रा०, ५.१.२०-२२, बौधा०श्रौ०, ५.१०, पृ० १४१, कात्या०श्रौ०, ५.६.६, पृ० ४८९, भा०श्रौ०, ८.१२.७, पृ० ११०, मान०श्रौ०, १.७.५.११, वारा०श्रौ०, १.७.३.३, सत्या०श्रौ०, ८.२.५.३, पृ० ४६९, आप०श्रौ०, ८.९.८, वै०को०, पृ० ३९६

१६. आप०श्रौ०, ८.१०.८ एवं ८.११/८-१०, कात्या०श्रौ०, ५.६.२९-३०

१७. श०ब्रा०, २.५.३.४

१८. तै०सं०, १.८.४, ''अग्नयेऽनीकवतेपुरोडाशमष्टाकपालंनिर्वपति साकं सूर्येणोद्यता।'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.५, तै०ब्रा०, १.६.६-१०, श०ब्रा०, २.५.३.२, ता०ब्रा०, १७.१३.१३, जै०ब्रा०, ५.१.१९, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४६९, कात्या०श्रौ०, ५.६.२, पृ० ४८८, भा०श्रौ०, ८.१२.२, पृ० १०९, मान०श्रौ०, १.७.५.२, वारा०श्रौ०, १.७.३.३, पृ० ६६, बौधा०श्रौ०, ५.१०, पृ० १४१,

वैखा०श्रौ०, २०.१/९.१, आप०श्रौ०, ८.९.२, वै०को०, पृ० ३९६

१९. तै०सं०, १.८.४, ''मरुद्भ्य: सान्तपनेभ्यो मध्यनिन्दने चरुम्'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.५, श०ब्रा०, २.५.३.३, बौधा०श्रौ०, ५.१०, पृ० १४१, वारा०श्रौ०, १.७.३.३, पृ० ६६, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० १६९, कात्या०श्रौ०, ५.६.३, पृ० ४८९, वै०को०, पृ० ३९६, वैखा०श्रौ०, २०.१/९.१, तै० ब्रा०, १६.६-१०, भा० श्रौ०, ८.१२.५, पृ० ११०, मान० श्रौ०, १.६.५.६

२०. मान०श्रौ०, १.७.५.१०, ''गृहमेधीयामेध्याबर्हि: संनहयत्यृते प्रस्तरपरिधीन्।''

२१. तै०सं०, १.८.४-६, ''मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य: सर्वासां दुग्धे सायं चरुम्।'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.५-६, श०ब्रा०, २.५.३.४, तै०ब्रा०, १.६.६-१०, जै०ब्रा०, ५.१.२०-२२, बौधा०श्रौ०, ५.१०, पृ० १४१, कात्या०श्रौ०, ५.६.६, पृ० ४८९, भा०श्रौ०, ८.१२.१७, पृ० ११०, मान०श्रौ०, १.७.५.११, वारा०श्रौ०, १.७.३.३, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४६९, आप०श्रौ०, ८.९.८, वै०को०, पृ० ३९६

२२. द्र० तृतीय अध्याय, वैश्वदेव पर्व।

२३. तै०ब्रा०, १.६.६, ''यन्नेध्माबर्हिर्भवति।'' भा०श्रौ०, ८.१२.११, पृ० ११०, नात्रेध्माबर्हिर्भवति न प्रणीता: प्रणयति।'' सत्या०श्रौ०, २.५.२, पृ० ४६९, कात्या०श्रौ०, ५.६.५, पृ० ४८९, वारा०श्रौ०, १.७.३.६, पृ० ६६

२४. श०ब्रा०, २.५.३.४, ''सर्वस्तीर्णा वेदिर्भवति या मरुद्भ्य: सान्तपनेभ्य:।'' गोपीनाथ:-''वेदे: स्तीर्णत्वपेक्ष न वेदि सम्मार्जनम्।''

२५. सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७०, ''कुम्भी तिस्रश्च पात्री:।'' वैखा०श्रौ०, २०.१/९.१

२६. आप०श्रौ०, ८.१०.६.१२

२७. श०ब्रा०, २.५.३.६

२८. तै०सं०, १.८.४, ''मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य:...।'' श०ब्रा०, २.५.३.४, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७०, ''निर्वपणकाले मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य: प्रभूतान्व्रीहीन्निर्वपति यावत्पयोमन्येते।'' भा०श्रौ०, ८.१२.१४-१५, आप०श्रौ०, ८.१०.१, मान०श्रौ०, १.७.५,११, वैखा०श्रौ०, २०.१/९.१

२९. द्र० तृतीय अध्याय, वैश्वदेव पर्व।

३०. भा०श्रौ०, ८.१२.२१, ''ध्रुवायामेव गृह्णाति।'' सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७१

३१. श०ब्रा०, २.५.३.६, भा०श्रौ०, ८.१२.२२, ''प्रोक्षणी अभिमन्त्र्य ब्रह्माणमामन्त्र्य वेदिं प्रोक्ष्य प्रोक्षण्यवशेषं निनीयाग्निमभिमन्त्रान्तर्वेदि ध्रुवाँ सादयित्वा स्रुवं सादयति...।'' वैखा०श्रौ०, २०.२/९.२, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७१, आप०श्रौ०, ८.१०.६, हि०श्रौ०, ५.८.१३

३२. पकायी ,गयी हवि के ऊपर पड़ी हुई पपड़ी।

३३. द्र० तृतीय अध्याय वैश्वदेव पर्व।
३४. वैखा०श्रौ०, २०.२/९.२, भा०श्रौ०, ८.१३.१-३, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७२
३५. का०सं०, ३६.९, ''अपिप्रतिशमोदनं पचेत।'' तै०ब्रा०, १.६.७, वैखा०श्रौ०, २०.२/९.२, भा०श्रौ०, ८.१२.१६, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७१, मान०श्रौ०, १.७.६.२७, वारा०श्रौ०, १.७.३.१५
३६. द्र० तृतीय अध्याय, वैश्वदेव पर्व का निरूपण।
३७. तै०ब्रा०, १.६.६, ''सामिधेनीरन्वाह..आज्यभागो यजति।'' भा०श्रौ०, ८.१३.५, पृ० १११, ''नात्र सामिधेन्यो भवन्ति नाघारौ न प्रयाजाः।'' सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७२
३८. श०ब्रा०, २.५.३.९, ''मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यो नुब्रूहि...मरुतो गृहमेधिनो यज्।'' तै०ब्रा०, १.६.६, वैखा०श्रौ०, २०.२/९.२, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७२, भा०श्रौ०, ८.१३.४-११, आप०श्रौ०, ८.११.४
३९. तै०सं०, १.८.४, ''इडान्तो भवति।'' तै०ब्रा०, १.६.६, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७२, भा०श्रौ०, ८.१३.१७, वारा०श्रौ०, १.७.३.१३, पृ० ६६, कात्या०श्रौ०, ५.६.२६, पृ० ४९५
४०. तै०ब्रा०, १.६.७, ''यत् पत्नी गृहमेधीयस्याश्नीयात्-यन्नाश्नीयात्...प्रतिवेशं पयेयुः तस्याश्नीयात्।'' हि०श्रौ०, ५.८.१२, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७२, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, आप०श्रौ०, ८.१०.८, ८.११.८, १०, कात्या०श्रौ०, ५.६.२९-३०, भा०श्रौ०, ८.१३.१४-१५, वारा०श्रौ०, १.७.३.१६
४१. वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, भा०श्रौ०, ८.१३.१६
४२. तै०सं०, १.८.४, तै०ब्रा०, १.६.७, ''आञ्जतेऽभ्यजते। अनुवत्सान् वासयन्ति।'' सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७३, आप०श्रौ०, ८.११.१३-१४, भा०श्रौ०, ८, १३.१९, पृ० १११, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, बौधा०श्रौ०, ५.१०, पृ० १४२
४३. भा०श्रौ०, ८.१४.२, पृ० १११, ''पराचीनरात्रेऽग्निहोत्राश्चाभिवान्यायाश्च वत्सौ बध्नन्ति।'' सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७३, मान०श्रौ०, १.७.६.२८, वारा०श्रौ०, १.७.३.१९-२०, पृ० ६६, बौधा०श्रौ०, ५.१०, पृ० १४२
४४. श०ब्रा०, २.५.३.१७, भा०श्रौ०, ८.१४.३, पृ० १११, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७३, मान०श्रौ०, १.७.६.२९, वारा०श्रौ०, १.७.३.२१, पृ० ६६
४५. श०ब्रा०, २.५.३.१७
४६. तै०सं०, १.८.४, श०ब्रा०, २.५.३.१७, तै०ब्रा०, १.६.७, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, आप०श्रौ०, ८.११.१९, भा०श्रौ०, ८.१४.३-६, पृ० १११, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७३-४७४, कात्या०श्रौ०, ५.६.३१-३३, वारा०श्रौ०, १.७.३.२१, पृ० ६६
४७. मै०सं०, १.१०.१६, ''यद्दर्व्या जुहोति।'' श०ब्रा०, २.५.३.१७, तै०ब्रा०, १.६.

७, भा०श्रौ०, ८.१४.५, पृ० १११, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७३-४७४
४८. यजु०, ३.४९
४९. श०ब्रा०, २.५.३.१७, तै०ब्रा०, १.६.७, भा०श्रौ०, ८.१४.६, पृ० १११, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७४
५०. श०ब्रा०, २.५.३.१८, तै०ब्रा०, १.६.७
५१. यजु०, ३.५०, वा०सं०, ३.४९
५२. तै०सं०, १.८.४, श०ब्रा०, २.५.३.१९, तै०ब्रा०, १.६.७, वैखा०श्रौ० २०.३/९.३, आप०श्रौ०, ८.११.१९, भा०श्रौ०, ८.१४.३-६, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७३-४७४, कात्या०श्रौ०, ५.६.३१-३३, वारा०श्रौ०, १.७.३.२१, पृ० ६६
५३. श०ब्रा०, २.५.३.१८
५४. श०ब्रा०, २.५.३.१८, ''यदि न रुयाद् ब्राह्मण एव दक्षिणत् आसीनो ब्रूयात जुहधीति।'' वैखा०श्रौ०, ३/९.३, ''यद्यृषभौ न नदेद् ब्रह्मा हिं कुर्यात्।'' आश्व०श्रौ०, २.१८.११-१२, मान०श्रौ०, १.७.६.३०, वारा०श्रौ०, १.७.३.२२, भा०श्रौ०, ८.१४.८, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७४
५५. श०ब्रा०, २.५.३.१८
५६. कौषी०ब्रा०, ५.५, ''ऋषभो वृषभइर्त्यकार्थः।'' अनड्वान सेक्ता दक्षिणा अथ यद्यृषभं ददातीति श्रुतेः।'' शां०श्रौ०, ३.१५.२३
५७. तै०सं०, १.८.४, ''मरुद्भ्यः क्रीडभ्यः पुरोडाशँ सप्त कपालं निर्वपति साकं सूर्येणोद्यता।'' मै०सं०, १.१०.१, ''मरुदभ्यः क्रीडभ्यः साकं रश्मिभिः।'' मै०सं०, १.१०.१६, का०सं०, ३६.१०, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, भा०श्रौ०, ८.१४.१०-१४, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७४, मान०श्रौ०, १.७.५.३१, वारा०श्रौ०, १.७.३.२३
५८. श०ब्रा०, २.५.३.२०
५९. तै०सं०, १.८.४, ''ऐन्द्राग्नमेकादशकपालम्'' मै०सं०, १.१०.१-२, का०सं०, ९.५, कपि०सं०, ८.८, वा०सं०, ३.४.९-५०, तै०ब्रा०, १.६.७, शां०ब्रा०, ५.७, गो०ब्रा०, २.१.३३, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७४, भा०श्रौ०, ८.१५.३, आश्व०श्रौ०, २.१८.१८
६०. श०ब्रा०, २.५.४.८, ''अथ ऐन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति। ''वारा०श्रौ० १.७.३.२५, पृ० ६६, कात्या०श्रौ०, ५.७, ८, पृ० ५०४
६१. तै०सं०, १.८.४, ''इन्द्रं चरुं।'' मैक्स०, १.१०.१-२, का०सं०, ९.५, कपि०सं० ८.८, वा०सं०, ३.४९-५०, इन्द्र देवताक याज्यानुवाक्या के लिए द्र० ऋ०सं० ४.३२.१, ६.२५.८, श०ब्रा०, २.५.४.९, तै०ब्रा०, १.६.७, गो०ब्रा०, २.१.३३, शां०ब्रा०, ५.७, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७४, भा०श्रौ०, ८.१५.३

६२. आश्व०श्रौ०, २.१८.१८, ''माहेन्द्रश्चरः।'' कात्या०श्रौ०, ५.७.९, पृ० ५०४

६३. तै०सं०, १.८.४, ''वैश्वकर्मणमेककपालम्'', मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, ९.५, कपि०सं०, ८.८, वा०सं०, ३.४९-५०, विश्वकर्मा देवताक याज्यानुवाक्या के लिए द्र० ऋ०सं०, १०.८१.५.६, श०ब्रा०, २.५.४.१०, तै०ब्रा०, १.६.७, शां०ब्रा०, ५.७, गो०ब्रा०, २.१.३३, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७४, भा०श्रौ०, ८.१५.३, आश्व०श्रौ०, २.१८.१८, वारा०श्रौ०, १.७.३.२५, आप०श्रौ०, ८.१३.१, कात्या०श्रौ०, ५.७.१०, पृ० ५०४

६४. तै०सं०, १.४.१४, ''सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्च, मै०सं०, १.३.१६, का०सं०, ४.७, वा०सं०, ७, ३०, वैखा० श्रौ०,, २०.३/९.३, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७५, ''सहश्च सहस्पश्चेति चतुभिरेककपालमभिजुहोति सहसे स्वाहा, सहस्याय स्वाहेति वा। भा०श्रौ०, ८.१५.६ पृ० ११२, आप०श्रौ०, ८.१३.१

६५. गो०ब्रा०, २.१.२३-२४, ''अथ यदृषभं ददाति।'' शा०ब्रा०, ५.५.६, वारा०श्रौ०, १.७.३.२७ मान०श्रौ०, १.७.६.३५, कात्या०श्रौ०, ५.७.१२, पृ० ५०४

६६. आप०श्रौ०, ८.१३.१, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३

६७. भा०श्रौ०, ८.१५.८, पृ० ११२

६८. सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७५, ''ऐन्द्राग्नतुषैरवभृथमवयन्ति गमन संयुक्ते।'' वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३, आप०श्रौ०, ८.१२.६, वाछेश्वर–''न्वोवसारणे (चावधारणे) ऐन्द्राग्नतुषैरेवावभृथमवयन्ति।''

६९. तै०सं०, १.८.४, ''सोमाय पितृमते पुरोडाशं षटकपालं निर्वपति।'' भा०श्रौ०श०ब्रा० २.५.६.३, तै०ब्रा०, १.६.८, वैखा०श्रौ०, २०.४/९.४, भा०श्रौ०८.१६.१४, पृ० ११३, कात्या०श्रौ०, ५.८.९, पृ० ५०९, वारा०श्रौ०, १.७.४.१२, पृ० ६७, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७६, मान०श्रौ०, १.७.६.६

७०. का०सं०, ९.६, ''सोमाय पितृमत आज्यम्'' आप०श्रौ०, ८.१३.१६

७१. श०ब्रा०, २.६.१.४, गो०ब्रा०, १.२४

७२. तै०सं०, १.८.४, ''पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यो धानाः।'' श०ब्रा०, २.६.१.५, भा०श्रौ०, ८.१६.१४, पृ० ११३, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७६, वैखा०श्रौ०, २०.४/९.४, आश्व०श्रौ०, २.१९.२१, कात्या०श्रौ०, ५.८.११, पृ० ५०९, वारा०श्रौ०, १.७.४.१२, पृ० ६७, मान०श्रौ०, १.७.६.६

७३. श०ब्रा०, ५.६.१.५

७४. तै०सं०, १.८.४, ''पितृभ्योऽग्निष्वान्तेभ्योऽभिवान्यवत्सायै दुग्धे मन्थम्।'' श०ब्रा०, २.६.१.६, तै०ब्रा०१.६.८, वाञ्छेश्वर–पितृभ्योऽग्निष्वान्तभ्यो मन्थं दुग्ध मिश्रसक्तूनां मन्थं इति संज्ञा। मान०श्रौ०, १.७.६.६, भा०श्रौ०, ८.१६.१४, पृ० ११३, सत्या०श्रौ०, २.५.३, पृ० ४७६, वारा०श्रौ०, १.७.४.१२, पृ० ६७, कात्या०श्रौ०,

५.८.१२, पृ० ५०९, वैखा०श्रौ०, २०.४/९.४, आश्व०श्रौ०, २.१९.२१

७५. का०सं०, ९.५-६, पितृभ्यो बर्हिषदभ्यष्टकपाल: पुरोडाश:।'' आप०श्रौ०, ८.१३.१६

७६. वह गाय जिसका स्वयं का बछड़ा खत्म हो गया हो तथा वह दूसरी गाय के बछड़े से दूध देती हो।

७७. श०ब्रा०, २.६.१.६

७८. का०सं०, ९.५-६, ''पितृभ्योऽग्निष्वान्तेभ्यो धाना:।'' आप०श्रौ०, ८.१३.१६

७९. आश्व०श्रौ०, २.१९.२१, आप०श्रौ०, ८.१३.१६

८०. आश्व०श्रौ०, २.१९.२१, आप०श्रौ०, ८.१३.१६

८१. मान०श्रौ०, १.७.६९, ''दक्षिणतभुरस्तादक्षिणाग्ने: प्रणीता: सादयति।''

८२. श०ब्रा०, २.६.१.१०, भा०श्रौ०, ८.१६.२-४, पृ० ११२, दक्षिणपूर्वेणान्वाहार्यपचनं चजमानमात्रीं चतु: स्त्रक्तिं वेदिं करोति। अथैनां सर्वत: परिश्रित्योत्तरां स्त्रक्तिं प्रतिद्वारं करोति। वारा०श्रौ०, १.७.४.१, पृ० ६७, वैखा०श्रौ०, २०.४/९.४, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४७५, कात्या०श्रौ०, ५.८.२१, आप०श्रौ०,८.१३.२

८३. श०ब्रा०, २.६.१.१०, वैखा०श्रौ०, २०.४/९.४, भा०श्रौ०, ८.४६.२-४, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४७५, कात्या०श्रौ०, ५.८.२१, आप०श्रौ०, ८.१३.२, सै०बु०इ०, १२, पृ० ४२२, टि० ३

८४. मै०सं०, १.१०.१७, का०सं०, ३६.१२, श०ब्रा०, २.६.१.११, ''तन्मध्येऽग्नि समादधाति'' तै०ब्रा०, १.६.८, वैखा०श्रौ०, २०.४/९.४, भा०श्रौ०, ८.१६.५-६, पृ० ११२, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४७४, वारा०श्रौ०, १.७.४.६

८५. श०ब्रा०, २.६.१.१६, तै०ब्रा०, १.६.८, ''त्रीन परिधीन् परिदध्यात् मृत्युना यजमानं परिगृह्णीयात् द्वौ परिधी परिदधाति।'' वैखा०श्रौ०, २०.४/९.४, सत्या०श्रौ० २.५.४, पृ० ४७८, भा०श्रौ०, ८.१६.९-११, पृ० ११२

८६. तै०ब्रा०, १.६.८, ''दक्षिणत: प्राचीनवीती...निर्वपति। उत्तरत: एवोपवीय निर्वपतो।'' श०ब्रा०, २.६.१.८

८७. तै०ब्रा०, १.६.८, वैखा०श्रौ०, २०.४-५/९.४-५, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४७९, भा०श्रौ०, ८.१६.१२-८.१७.१३, पृ० ११२-११३, आप०श्रौ०, ८.१३.२०

८८. वाञ्छेश्वर-''मन्थं दुग्धमिश्रसक्तूनां मन्थ इति संज्ञा।'' श्रौ०प०नि०

८९. तै०सं०, १.८.४, मै०सं०, १.१०.१७, का०सं०, ३६.११, तै०ब्रा०, १.६.८, श०ब्रा०, २.६.१.६, वैखा०श्रौ० २०.५/९.५, भा०श्रौ०, ८.१७.८-११, पृ० ११२, सत्या०श्रौ० २.५.४, पृ० ४८०, आप०श्रौ०, ८.१४.४, हि०ध०शा०, २१३, पृ० ११०२, पाटि० २४६८

९०. वैखा०श्रौ०, २०.५/९.५, कात्या०श्रौ०, ५.८.२६, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८०, भा०श्रौ०, ८.१७.१६-१७, पृ० ११३, आप०श्रौ०, ८.१४.२

९१. तै०ब्रा०, १.६.८, श०ब्रा०, २.६.१.१६

९२. तै०सं०, १.७.१२.२, वैखा०श्रौ०, २०.५-६/९.५-६, सत्या०श्रौ०, २.५.४, भा०श्रौ०, ८.१४.१९, ८.१८.३, आप०श्रौ०, ८.१७.१०-१२

९३. पुरोडाश, धाना एवं करम्भ

९४. भुने हुए जौ को धाना कहते हैं।

९५. वैखा०श्रौ०, २०.६/९.६, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८१, भा०श्रौ०, ८.१८. ४-६, पृ० ११३, आप०श्रौ०, ८.१४.१३-१५

९६. तै०सं०, २.६.१२.१, वैखा०श्रौ०, २०.६/९.६, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८१, भा०श्रौ०, ८.१८.८-१०, पृ० ११३, आप०श्रौ०, ८.१४.१७-१९

९७. तै०ब्रा०, १.६.९, ''अपबर्हिषः प्रयाजान यजति।'' वैखा०श्रौ०, २०.६/९.६, भा०श्रौ०, ८.१८.१६, पृ० ११४, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८२, शां०श्रौ०, १३.१५, पृ० १४०-१४३

९८. श०ब्रा०, २.६.१.१७, तै०ब्रा०, १.६.८, वैखा०श्रौ०, २०.६/९.६, भा०श्रौ०, ८.१८. १९-२१, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८२, आप०श्रौ०, ८.१४.२३-२५

९९. भा०श्रौ०, ८.१९.१-२४, वारा०श्रौ०, ७.५.४०-४६, पृ० ६७, वैखा०श्रौ०, २०. ७-८/९.७-८, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८३, पुरोनुवाक्या तथा याज्या मन्त्रों के लिए द्र० आश्व०श्रौ०, २.१९.२२, २४

१००. वैखा०श्रौ०, २०.८-९/९.८, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८४, भा०श्रौ०, ८.२०. २-६

१०१. भा०श्रौ०, ८.२०.८-९, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८५, वैखा०श्रौ०, २०.९/९.९

१०२. तै०सं०, ३.२.५.५, सत्या०श्रौ०, २.५.४, वैखा०श्रौ०, २०.९/९.९, आप०श्रौ०, ८.१६.६-७, भा०श्रौ०, ८.२०.११-१३

१०३. प्रदक्षिण क्रम में

१०४. मै०सं०, १.१०, १९, का०सं०, ३३.१३, तै०ब्रा०, १.६.९, श०ब्रा०, २.६.१. ३४, २.६.१४१, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८६, वैखा०श्रौ०, २०.१०/९.१०, भा०श्रौ०, ८.२०.१०

१०५. तै०ब्रा०, १.६.९, भा०श्रौ०, ८.२१.१२-१३, वैखा०श्रौ०, २०.१०/९.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८६, वारा०श्रौ०, १.७.५, ५७, पृ० ६८

१०६. तै०ब्रा०, ३.५.११, आश्व०श्रौ०, २.१९.२, कात्या०श्रौ०, ५.९.३२

१०७. तै०ब्रा०, १.६.९, शां०ब्रा०, ५.७, गो०ब्रा०, २.१.२५, वैखा०श्रौ०, २०.१०/९.१०, भा०श्रौ०, ८.२१.१५, सत्या०श्रौ०, २.५.४, पृ० ४८७, वारा०श्रौ०, १.७.५.५८

१०८. तै०सं०, १.८६, मै०सं०, १.१०.२०, का०सं०, ३६.१४, तै०ब्रा०, १.६.१०, श०ब्रा०, २.६.२.१-१६, भा०श्रौ०, ८.२२.१.८, ११, २३.९, आश्व०श्रौ०, २.१९.३७-४०, आप०श्रौ०, ८.१८-१९, बौधा०श्रौ०, ५.१६-१७, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८७-४८९, वैखा०श्रौ०, २०.१०-१२, ९.१०-१२, वारा०श्रौ०, १.७.५.६२-४

१०९. श०ब्रा०, २.६.२.२

११०. तै०सं०, १.८.६, मै०सं०, १.१०.२०, का०सं०, ३६.१४, श०ब्रा०, २.६.२.३, तै०ब्रा०, १.६.१०, वैखा०श्रौ०, २०.१०/९.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८७, कात्या०श्रौ०, ५.१०.१, भा०श्रौ०, ८.२२.१, आप०श्रौ०, ८.१७.१.२, बौधा०श्रौ०, ५.१६.१७

१११. का०सं०, ३६.१४, ''एकोऽधिको भवति।'' तै०ब्रा०, १.६.१०, श०ब्रा०, २.६.२.३, वैखा०श्रौ०, २०.१०/९.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८७, कात्या०श्रौ०, ५.१०.१, भा०श्रौ०, ८.२२.१, मान०श्रौ०, १.७.८.१, आप०श्रौ०, ८.१७.९-१२

११२. श०ब्रा०, २.६.२.३

११३. वही, २.६.२.४

११४. वही, २.६.२.५

११५. वही, २.६.२.६, तै०ब्रा०, १.६.१०, ''नाभिधारयति।'' वैखा०श्रौ०, २०.१०/९.१०, कात्या०श्रौ०, ५.१०.१०-१३, आप०श्रौ०, ८.१७.९-१२, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८७ भा०श्रौ०, ८.२२.२-३

११६. श०ब्रा०, २.६.२.६

११७. यजु०, ३.५७, तै०ब्रा०, १.८.६.१, श०ब्रा०, २.६.२.१०, वैखा०श्रौ०, २०.१०/९.१०, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८८, भा०श्रौ०, ८.२२.६

११८. श०ब्रा०, २.६.२.७

११९. मै०सं०, १.१०.२०, का०सं०, ३६.१४, तै०ब्रा०, १.६.१०, श०ब्रा०, २.६.२.७

१२०. तै०सं०, १.८.६, वा०सं०, ३.५७, तै०ब्रा०, १.६.१०, श०ब्रा०, २.६.२.८, वैखा०श्रौ०, २०.११/९.११, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८८, भा०श्रौ०, ८.२२.६, आप०श्रौ०, ८.१७.१२

१२१. श०ब्रा०, २.६.२.८

१२२. वही, २.६.२.१२, मान०श्रौ०, १.७.७.६, ''तिसृभिस्त्रिः परियन्ति पतिकामा च।''

१२३. यजु०, ३.५.८, ५९, श०ब्रा०, २.६.२.११

१२४. वही, ३.६०, २.६.२.१२

१२५. वही, ३.६०, २६.२.१३-१४

१२६. श०ब्रा०, २.६.२.१४

१२७. वही, २.६.२.१५

१२८. यजमान परिवार के सदस्य

१२९. मै०सं०, १.१०.२०, ''तानूर्ध्वानुप्रतिलभन्ते।'' का०सं०, ९.७, मान०श्रौ०, १.७.७.८, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८८, वै०को०, पृ० ३९७

१३०. का०सं०, ३६.१४, मान०श्रौ०, १.७.७.९, ''तान्यजमानाय समावपन्ति पतिकामायै च।'' सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८८, भा०श्रौ०, ८.२.२.१०

१३१. श०ब्रा०, २.६.२.१६

१३२. तै०सं०, १.८.६,वा०सं०, ३.६०, वैखा०श्रौ०, २०.११/९.११, कात्या०श्रौ०, ५.१०.१५, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८८-४८९, भा०श्रौ०, ८.२२.९-८

१३३. श०ब्रा०, २.६.२.१८

१३४. तै०सं०, १.८.६, वा०सं०, ३.६१, वैखा०श्रौ०, २०.११-१२/९.११-१२, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४८९, भा०श्रौ०, ८.२३.५-८, आप०श्रौ०, ८.१८.९

१३५. वै०को०, पृ० ३९७

१३६. वैखा०श्रौ०, २.१२/९.१२, भा०श्रौ०, ८.२३.१०-१५, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४९०, आप०श्रौ०, ८.१९.१-१३

१३७. मै०सं०, १.१०.२०, तै०ब्रा०, १.६.१०, भा०श्रौ०, ८.२३.१०, पृ० ११७, ''प्रत्येत्यादितैयैधृते चरुं निर्वपति।'' मान०श्रौ०, १.७.७.१२, सत्या०श्रौ०, २.५.५, पृ० ४९०, वैखा०श्रौ०, २०.१२/९.१२, आप०श्रौ०, ८.१९.१-३

१३८. वैखा०श्रौ०, २०.१२/९.१२

१३९. वारा०श्रौ०, १.७.३.२७

षष्ठ अध्याय

शुनासीरीय पर्व[1]

यह चातुर्मास्येष्टि का चतुर्थ पर्व है।[2] यह साकमेध पर्व के अनन्तर अनुष्ठेय है। शुनासीरीय पद दो शब्दों शुन + सीर से मिलकर निर्मित है। इसके अर्थ के सन्दर्भ में मत-मतान्तर प्राप्त होते हैं। यास्काचार्य ने 'शुन' का अर्थ वायु तथा 'सीर' का अर्थ आदित्य किया है,[3] जबकि शतपथकार ने 'शुन' एवं 'सीर' का अर्थ क्रमश: समृद्धि एवं सार किया है।[4] पाश्चात्य विद्वान् 'शुनासीरौ' शब्द का अर्थ हल एवं उसके धार (फाल) को मानते हैं।[5] इस इष्टि के अनुष्ठान के सम्पादन से यजमान को समृद्धि एवं सार की प्राप्ति होती है, इसीलिए इस इष्टि का नाम शुनासीर है।[6]

अनुष्ठान काल

शुनासीरीय पर्व के अनुष्ठान काल के सन्दर्भ में मत-मतान्तरों का आधिक्य प्राप्त होता है। आचार्यों के एक सम्प्रदाय के अनुसार साकमेध पर्व के प्रारम्भ के चार मास के अनन्तर फाल्गुन मास की प्रतिपदा को यह पर्व अनुष्ठेय है।[7] द्वितीय मत के अनुसार साकमेध के दो दिन, तीन दिन, पन्द्रह दिन, एक मास, एक ऋतु अथवा चार मास के अनन्तर इस इष्टि के सम्पादन का विधान है।[8] इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण चातुर्मास्य याग के अनुष्ठान की अवधि को सीमित किए जाने के भी उल्लेख हैं। चातुर्मास्य यज्ञ का सम्पादन एक दिन में भी सम्भव बताया गया है। इस सन्दर्भ में तैयारियों के मध्य ही प्रात:कालीन आहुति प्रदान करके मध्याह्न के पूर्व वैश्वदेव, मध्याह्न में वरुणप्रघास, मध्याह्न के अनन्तर साकमेध तथा सायंकाल शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान किया जा सकता है।[9] पञ्च दिवसों में भी चातुर्मास्य यज्ञ के अनुष्ठान का सम्पादन सम्भव

है। पञ्चदिवसों में अनुष्ठेय चातुर्मास्य में प्रथम दिन वैश्वदेव, दूसरे दिन वरुणप्रघास, तृतीय एवं चतुर्थ दिवस को साकमेध तथा पाँचवें दिन शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान किए जाने का उल्लेख है।[१०] किन्तु ये विधान वैकल्पिक व्यवस्थाओं के अनुरूप दृष्टिगत होते हैं। विशेष व्यवस्थाओं के लिए विहित आनुष्ठानिक प्रक्रिया अग्रलिखित है–

देवता एवं द्रव्य

पूर्व लिखित पञ्च सञ्चर आहुतियों के अतिरिक्त इस पर्व की अपनी पाँच और आहुतियाँ हैं, जो पाँच देवताओं के निमित्त अर्पणीय हैं। देवता एवं उनके निमित्त अर्पणीय द्रव्यों का विधान अग्रलिखित है–

१. ऐन्द्राग्न देवता के निमित्त पुरोडाशों का विधान

यह इस याग की षष्ठ हवि है, जो पुरोडाशों के रूप में इन्द्र और अग्नि देवताओं के निमित्त अर्पणीय है। ऐन्द्राग्न देवता के लिए प्रदेय हवि के सन्दर्भ में सभी आचार्य एक मत हैं। सभी आचार्य एक मत से ऐन्द्राग्न देवता के निमित्त द्वादश कपालक पुरोडाशों को अर्पण करने का विधान प्रस्तुत करते हैं।[११] इसके सम्बन्ध में किसी विशेष परिवर्तन या भिन्नता का उपन्यास नहीं किया गया है।

२. वैश्वदेवों के निमित्त 'चरु' का विधान

इस पर्व की सप्तम हवि 'चरु' के रूप में वैश्वदेवों के लिए अर्पित की जाती है। सभी आचार्य वैश्वदेवों के लिए 'चरु' अर्पण करने का ही विधान करते हैं।[१२]

३. इन्द्र शुनासीर देवता के लिए पुरोडाशों का विधान

यह अष्टम हवि इन्द्र शुनासीर देवता के लिए विहित है। इन्द्र शुनासीर देवता के निमित्त सर्वत्र द्वादश कपालक पुरोडाशों के अर्पण करने का विधान प्राप्त होता है।[१३]

४. वायु देवता के निमित्त 'पय' का विधान

यह शुनासीरीय पर्व की नवम हवि है, जो वायु देवता के लिए अर्पित की जाती है। वायु देवता के लिए अर्पणीय हवि के सम्बन्ध में कई मत-मतान्तर प्राप्त होते हैं। प्रथम मत के अनुसार वायु देवता

के लिए 'पय' अर्पण करने का विधान है।[२४] दूसरे मत के अनुसार वायु देवता को 'यवागू' अर्पण करने का निर्देश प्राप्त होता है।[२५] काठक संहिता में सविकल्प 'पय' अथवा 'यवागू' अर्पण करने का उल्लेख है।[२६] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार–''वायु के द्वारा ही वर्षा होती है, वर्षा से औषधि तैयार होती है तथा औषधि और जल से दूध बनता है। इसीलिए वायु देवता को 'पय' की आहुति प्रदान करना चाहिए।[२७] सभी मतों में इस आहुति की अनिवार्य रूप में विधान किए जाने की स्वीकृति है।

५. सूर्य देवता के निमित्त पुरोडाश का विधान

इस पर्व की दशम हवि पुरोडाश के रूप में सूर्य देवता के निमित्त अर्पणीय है। प्राप्त विधानों के आधार पर सूर्य देवता के लिए एक कपालक पुरोडाश अर्पण किया जाता है।[२८] शतपथकार के अनुसार सूर्य स्वयं तप करके सबकी रक्षा करते हुए सबको धारण करता है। अत: सूर्य देवता के लिए एक कपालक पुरोडाश प्रदान किया जाता है।[२९]

इस प्रकार से शुनासीरीय पर्व के अनुष्ठान के सम्पादन में कुल दश आहुतियों का विधान विहित किया गया है, जिसे अनिवार्यत: सम्पादित करना चाहिए।

विधि-विधान

इस यागानुष्ठान के सम्पादन की विधि वैश्वदेव याग के समान ही है।[३०] इस पर्व में न तो उत्तर वेदी होती है और न घर्षण द्वारा उत्पन्न की गई अग्नि ही होती है। किन्तु यदि उत्तर वेदी का निर्माण करना अभीष्ट हो तो उसके लिए वरुणप्रघास पर्व की उत्तर वेदि की प्रक्रिया ग्रहण करना चाहिए। इस इष्टि में सूर्य देवता के निमित्त एक कपालक पुरोडाश याग-पर्यन्त कृत्य प्रकृतिवत् सम्पन्न किए जाते हैं। इसके अनन्तर अध्वर्यु द्वारा मासों के नामों का प्रतिनिधित्व करने वाले मन्त्रों के अन्तिम मन्त्र से आज्य की एक आहुति प्रदान की जाती है।[३१] इस पर्व में पाँच प्रयाज तथा तीन अनुयाज एवं एक समिष्ट यजुष् आहुति अर्पणीय है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में नौ प्रयाज एवं अनुयाज आहुतियों का विधान प्रस्तुत किया गया है।[३२]

इस याग में प्रदेय दक्षिणा के सन्दर्भ में मत-मतान्तरों का बाहुल्य।

है। प्रथम मत के अनुसार बारह बैलों के साथ एक हल दक्षिणा में प्रदेय है।[२३] आचार्य आपस्तम्ब एवं भारद्वाज के अनुसार सविकल्प बारह अथवा छः बैलों के साथ एक हल दक्षिणा में प्रदान करना चाहिए,[२४] जबकि आचार्य कात्यायन के अनुसार एक सफेद बैल दक्षिणा में अर्पणीय है।[२५]

मानव श्रौतसूत्र के अनुसार जो व्यक्ति एक साथ चातुर्मास्य यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करता है, उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[२६] उसे पशु अथवा सोमयाग के साथ इस याग को भी सम्पन्न करने का विधान है।[२७] ज्ञातव्य है कि यदि वरुणप्रघास के साथ समापन हो तो वैश्वानर एवं पर्जन्यादि के लिए बीस हवियों का निर्वाप करना चाहिए। किन्तु इसमें त्र्यम्बक इष्टि की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहिए, अपितु उसे निरस्त कर देना चाहिए। इन सबमें अवभृथ एक ही समान अनुष्ठेय है।[२८] ध्यातव्य है कि साकमेध के अन्तर्गत अनुष्ठेय पितृयज्ञ चातुर्मास्य यज्ञ का एक आवश्यक अंग है। इसलिए पितृयज्ञ का अनुष्ठान भी इसी दिन का विधान है।[२९]

चातुर्मास्य याग में दो पक्ष होते हैं। १. उत्सर्ग पक्ष तथा २. यावज्जीव पक्ष। जो व्यक्ति एक बार चातुर्मास्य यज्ञ करके पशु अथवा सोमयाग करता है, उसे पुनः चातुर्मास्य नहीं करना पड़ता। यह उत्सर्ग पक्ष है। जब चातुर्मास्य यज्ञ ही जीवन पर्यन्त प्रतिवर्ष किया जाता रहे तो उसे यावज्जीव पक्ष से अभिहित किया जाता है। उत्सर्ग पक्ष में साकमेध पर्व के अनन्तर फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा को शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान करके पूर्णिमा को वैश्वदेव पर्व किया जाता है। तदनन्तर पूर्वोक्त विधि से वरुणप्रघास आदि पर्व सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यावज्जीव-पक्ष भी करणीय है।

वस्तुतः चातुर्मास्य तीन प्रकार के होते हैं, जो क्रमशः अग्रलिखित हैं–१. ऐष्टिक २. पाशुक तथा ३. सौमिक। सांवत्सरिकों का निरूपण तो पहले किया जा चुका है। इसके अग्रलिखित तीन प्रकार हैं–१. सांवत्सरिक, २. पञ्चाहिक तथा ३. एकाहिक। पाँच दिनों में सम्पन्न होने वाले ऐष्टिक को पञ्चाहिक कहते हैं। इसमें देवता आदि पूर्व वर्णित विधानानुसार ही होते हैं। जब चातुर्मास्य का अनुष्ठान एक दिन में

सम्पन्न किया जाय, तो उसे एकाहिक कहते हैं। इसमें भी उतने ही देवता रहते हैं तथा उतनी ही हवियाँ भी रहती हैं। ज्ञातव्य है कि सभी पर्वों के एक काल में किए जाने के कारण उसके सम्भव अंगों का तन्त्र द्वारा अनुष्ठान होता है तथा असम्भवों की तो आवृत्ति ही होती है। उसमें वरुणप्रघासिक ही महत्त्व के कारण तन्त्र होता है।

चातुर्मास्य जब पशुओं सहित होता है तो 'पाशुक' कहा जाता है। पाशुक में पशु तन्त्र ही प्रधान होता है। इसलिए इसमें ग्यारह प्रयाज तथा ग्यारह अनुयाज होते हैं। प्रथम पर्व में वैश्वदेव, द्वितीय पर्व में वारुण तृतीय में माहेन्द्र और चतुर्थ पर्व में शुनासीरीय पर्व होते हैं। इन पशुओं का ऐष्टिक हवियों के साथ समान तन्त्र से अनुष्ठान होता है, जिसे पहला पक्ष कहा जाता है। जब प्रत्येक पर्व के आरम्भ में पृथक् तन्त्र से अनुष्ठान सम्पादित करके तदनन्तर ऐष्टिकों का अनुष्ठान सम्पादन किया जाता है—तब दूसरा पक्ष होता है। पर्व के अन्त में पृथक् तन्त्र द्वारा सम्पादित अनुष्ठान तीसरा पक्ष कहलाता है। सौमिक में तो वैश्वदेव पर्व के स्थान पर अग्निष्टोम–संस्थ अथवा उक्थ्य संस्थ प्रथम दिन होता है। दूसरा दिन उक्थ्य संस्थ होता है। साकमेध पर्व के स्थान पर प्रथम दिन अग्निष्टोम-संस्थ अथवा षोडषि-संस्थ होता है। दूसरा उक्थ्य संस्थ, तीसरा अतिरात्र संस्थ होता है। शुनासीरीय के स्थान पर ज्योतिष्टोम किया जाता है। सात दिनों में क्रमशः वैश्वदेव, वारुण, मारुत, आग्नेय, ऐन्द्राग्न, ऐकादशिन् वायव्य ये पशु होते हैं। अवभृथ प्रतिपर्व होता है।

निष्कर्षः कहा जा सकता है कि चातुर्मास्य याग में चतुर्थ पर्व के रूप में विहित शुनासीरीय पर्व के अनुष्ठान की अपनी विशिष्ट वैज्ञानिकता है, जिसके अनुष्ठान-काल के सन्दर्भ में यत्किञ्चित् मतवैभिन्य को छोड़कर समस्त श्रौत साहित्य में एक प्रकार की सुनिश्चितता के दर्शन होते हैं। इसके देवता एवं द्रव्यों तथा आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं अथवा विधि-विधानों में सर्वत्र एकरूपता विद्यमान है। जो कुछ वैषम्य प्राप्त होता है, वह मात्र शाखान्तर प्रभाव है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. तै०सं०, १.८.७, मै०सं०, १.१०.१, ४.३.३, २.६.२, का०सं०, १५.२, श०ब्रा०, २.

६.३, ११.५.२.९, का०श०ब्रा०, १.६.३-४, १३.५.२, शां०ब्रा०, ५.८.१०, तै०ब्रा०, १.६.१, १.५.५, १.४.१०, गो०ब्रा०, २.१.२६, वैखा०श्रो०, २०.१२/९.१२, बौधा०श्रौ०, ५.१८, भा०श्रौ०, ८.२३, आप०श्रौ० ८.२०-२२, सत्या०श्रौ०, ५..६.६.८, मान०श्रौ०, १.७.८, १-११, वारा०श्रौ०, १.७.५, १-४, कात्या०श्रौ०, ४.५.७.११, १-१६, लाट्या०श्रौ०, ५.३.१४, द्रा०श्रौ०, १३.३.१२, वैता०श्रा०, ९.२४-२४.

२. शां०श्रौ०, ३.१७.१३.१८-२, ''शुनासीर्यमिति चतुर्थस्य चातुर्मासस्य पर्वणो नामधेयम।''

३. द्र० निरुक्त, ९.४०, वृहद्देवता, ५-८, ऋ०सं०, ४.५७.५८, में शुनासीरो शब्द तथा ऋ०सं०, ४.५७.४.८ में 'शुनाम' शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु वहाँ पर उसका अर्थ संदिग्ध है। वै०को०पृ०, ३९५.

४. श०ब्रा०, २.६.३.२

५. द्र०वै०इ०, भाग-२३, पृ० ३८६

६. श०ब्रा०, २.६.३.२

७. तां०ब्रा०, १७.१३.१५, 'ततश्चतुर्षु मासेषु शुनासीर्यम्...।' श०ब्रा०, २.६.३.१०-११, वैता०श्रौ०, २.१०.२४, 'फाल्गुन्यां शुनासीर्यम्।' वारा०श्रौ०, १.७.५.१, कात्या०श्रौ०, ५.१०.१, बौधा०श्रौ०, ५.१७.१८

८. सत्या०श्रौ०, २.५.६, पृ० ४९०, आप०श्रौ०, ८.२०.१, मान०श्रौ०, १.७.८.१, भा०श्रौ०, ८.२३.१३.२

९. भा०श्रौ०, ८.१७.९, प्रकारान्तरे प्रातराहुतिंहुत्वा पूर्वाहणे वैश्वदेवेन यजेत मध्याहे वरुणप्रधासैरपाहणे साकमेधैः। श्वोभूते शुनासीर्यसइयो वा।

१०. भा०श्रौ०, ८.१७.११, ''श्वोभूते वैश्वदेवं श्वोभूते वरुणप्रधासाइवयहं साकमेधाः श्वोभूते शुनासीर्यम्।''

११. तै०सं०, १.८.७, ''ऐन्द्राग्नं द्वादश कपालं...।'' तै०ब्रा०,१.७.१, वैखा०श्रौ०, २.१२/९.१२, कात्या०श्रौ०, ५.११.५, आप०श्रौ०, ८.२०.५, आश्व०श्रौ०, २.२०.३, सत्या०श्रौ०, २.५.६, पृ० ४९०, भा०श्रौ०, ८.२४.५, बौधा०श्रौ०, ५.१८, पृ० १५४.

१२. तै०सं०, १.८.७, ''वैश्वदेवं चरुम्।'' तै०ब्रा०, १.७.१, वैखा०श्रौ०, २०.१२/९.१२, कात्या०श्रौ०, ५.११.५, आप०श्रौ०, ८.२०.५, आश्व०श्रौ०, २.२०.३, सत्या०श्रौ०, २.५.६, पृ० ४९०, भा०श्रौ०, ८.२४.५, बौधा०श्रौ०, ५.१८, पृ० १५४.

१३. तै०सं०, १.८.७, ''इन्द्राय शुनासीराय पुरोडाशं द्वादश कपालम्।'' मै०सं०, १.१०.१, का०सं०, १५.२, तै०ब्रा०, १.७.१, श०ब्रा०, २.६.३.२.५, वैखा०श्रौ०, २०.१२.९.१२, कात्या०श्रौ०, ५.११.५, आप०श्रौ०, ८.२०.५, आश्व०श्रौ०, २.२०.३, सत्या०श्रौ०, २.५, ६, पृ० ४९०, भा०श्रौ०, ८.२४.५, बौधा०श्रौ०, ५.१८, पृ० १५४.

१४. तै०सं०, १.८.७, ''वायव्यं पयः' श०ब्रा०, २.६.३.२.७, तै०ब्रा०, १.७.१, वैखा०श्रौ०,

२०.१२/९.१२, सत्या०श्रौ०, २.५.६, पृ. ४९०, भा०श्रौ०, ८.२४.५, बौधा०श्रौ०, ५.१८, पृ० १५४, कात्या०श्रौ०, ५.११.५, आप०श्रौ०, ८.२०.५, आश्व०श्रौ०, २.२०.३

१५. मै०सं०, १.१०.१, ''वायव्या यवागूः प्रतिद्युग्वा'' वारा०श्रौ०, १.७.५

१६. का०सं०, १५.२, ''वायवे नियुत्वते पयो वा यवागूर्वा।''

१७. श०ब्रा०, २.६.३.२.७

१८. तै०सं०, १.८.७, सौर्यमेककपालम्, मै०सं०, १.१०.१, तै०ब्रा०, १.७.१, श०ब्रा०, २.६.३.२.८, वैखा०श्रौ०, २०.१२/९.१२, कात्या०श्रौ०, ५.११.५, आप०श्रौ०, ८.२०.५, आश्व०श्रौ०, २.२०.३, सत्या०श्रौ०, २.५.६, पृ० ४९०, भा०श्रौ०, ८.२४.५

१९. श०ब्रा०, २.६.३.२.८

२०. द्र० तृतीय अध्याय–वैश्वदेव पर्व

२१. तै०सं० १.४.१४, वैखा०श्रौ०, २०.१२/९.१२, सत्या०श्रौ०, २.५.६, पृ. ४९१, भा०श्रौ०, ८.२४.७

२२. आप०श्रौ०, ८.२०.६

२३. तै०सं०, १.८.७, वैखा०श्रौ०, २०.१२/९.१२

२४. आप०श्रौ०, ८.२०.९–१०, भा०श्रौ०, ८.२४.९, पृ० ११८

२५. कात्या०श्रौ०, ५.११.१२–१४

२६. मान०श्रौ०, ८.१७.१२, ''एष यथा स्वर्गलोकमेति यः समस्तैश्चातुर्मास्यैर्यजते।''

२७. वही, ८.१७.१३, ''स एतैरिष्टयन्तेः पश्वन्तैः सोमान्तैर्वा यजेत।''

२८. वही, ८.१७.१५, ''समानोऽवभृथः''

२९. वही, ८.१७.१६, ''पितृयज्ञश्च साकमेधिकस्तन्त्रवयः। सद्यः समाप्नुयात्।''

सप्तम अध्याय

चातुर्मास्य यज्ञ में प्रायश्चित्त विधान

यागानुष्ठानों के सम्पादन में प्रमाद, अज्ञान, भ्रम अथवा अनुभवहीनतादि के कारण अनुष्ठानप्रक्रिया एवं विधियों का उल्लंघन हो जाने पर तदुत्पन्न दोषों के निवारणार्थ प्रायश्चित्तों का विधान किया जाता है।[१] ऐसी मान्यता रही है कि चाहे ऋत्विजों की ओर से त्रुटि हो अथवा यजमानादि की ओर से, किन्तु उस त्रुटि का परिणाम यजमान के लिए नाशकारी ही होता है। ऋत्विजों के मन्त्रोच्चारणगत दोष, उनके गुण, आचरण एवं अनुभव की न्यूनता के कारण यज्ञागत दोष यजमान का नाश करते हैं। दोष युक्त याग एक ओर जहाँ फल प्रदायी नहीं होता, वहीं दूसरी ओर विनाश भी करता है। इन सभी त्रुटियों के शोधनार्थ प्रायश्चित्तों के अनुष्ठान सम्पादन का विधान है,[२] जिनका सम्पादन ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के अधीक्षण में सम्पन्न किया जाता है। क्योंकि ब्रह्मा ही यज्ञ का भेषज्य है। वही यज्ञ का उष्णीष् है। उसके वाग्य मन से निरीक्षित यज्ञ पूर्ण फलदायी होता है। ब्रह्मा ही इन प्रायश्चित्तों के अनुष्ठानार्थ अनुज्ञा प्रदान करता है। वही त्रुटियों का अन्वेषण भी करता है। त्रुटियों के आ जाने पर याग को वही विराम देकर प्रायश्चित्त अनुष्ठान करवाता है। तदनन्तर याग अग्रेषित करता है। किसी एक दोष के परिहार के लिए श्रुति-विहित सभी प्रायश्चित्त अनुष्ठेय है, क्योंकि उन सभी के पृथक्-पृथक् उद्देश्य हैं।[३] त्रुटि होने के अनन्तर तुरन्त प्रायश्चित्त किए जाने चाहिए। तदनन्तर ही आगे के कृत्य यथा पूर्व सम्पन्न किए जाने का विधान है।[४] मौलिक रूप से यागों में सम्भाव्य तीन प्रकार के प्रायश्चित्तों के उल्लेख है–

१. जप,

२. होम,

३. याग।[५]

इस प्रकरण में इष्टि प्रायश्चित्तों का विवेचन अग्रलिखित है–

इष्टि प्रायश्चित्त में क्रमशः अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आग्रयण एवं चातुर्मास्य से सम्बद्ध प्रायश्चित्तों का निरूपण द्रष्टव्य है। अग्नियों के आधान के समय यदि सूर्य मेघाच्छन्न या ग्रहण-ग्रस्त हो तो यजमान को शमन होम के अनन्तर 'उद्धयंतमसस्परि' आदि मन्त्रों द्वारा आहवनीयाग्नि का उपस्थान करना चाहिए। अग्न्याधान में दक्षिणा देने के पूर्व यजमान-पत्नी के रजस्वला होने पर कालान्तर में पुनः अग्नियों का आधान किया जाता है। इसमें दक्षिणा देने के अनन्तर रजस्वला होने पर उसे शेष कृत्यों से पृथक् रखना चाहिए। यदि वह अन्वारम्भणीयेष्टि के अनुष्ठान काल में रजस्वला हो जाती है, तो उसे इस इष्टि एवं साथ ही पूर्णमासेष्टि से भी पृथक् कर दिया जाता है। यदि अग्न्याधान के तुरन्त अनन्तर सोमयाग प्रारम्भ किया गया हो और उस समय यजमान-पत्नी रजस्वला हो जाती है तो उसे हवि-द्रव्यों का अवेक्षण नहीं करना चाहिए। तीन दिवसों के व्यतीत हो जाने पर यजमान द्वारा पूर्ववत् उपह्वान करने का विधान है।[६] गार्हपत्य अग्नि से अग्नि उद्धरण के पूर्व ही यदि सूर्यास्त हो जाय तो प्रायश्चित्त स्वरूप किसी विद्वान्, आर्षेय ब्राह्मण को दर्भ-द्वारा बाँधे गये एक स्वर्ण खण्ड के साथ आह्वनीयायतन की ओर प्रस्थान करना चाहिए। उल्मुक और अग्निहोत्र हवणी को लिए हुए अध्वर्यु द्वारा उसका अनुसरण किया जाता है।

इसके अनन्तर अध्वर्यु को आह्वनीयायतन में स्वर्ण-खण्ड पर अग्नि प्रतिष्ठापित कर दुग्ध की अग्निहोत्र में आहुति देनी चाहिए। तदनन्तर उसे अग्निहोत्र हवणी को वेदि के मध्य रखकर यथासम्भव अपने श्वाँस को रोकने के अनन्तर श्वाँस छोड़कर–'भूर्भुवः स्वः' इन व्याहृतियों द्वारा अग्नि का उपस्थान करना चाहिए। इस समय यजमान द्वारा दक्षिणा प्रदान करने का निर्देश है। अब आह्वनीयाग्नि में पुनः आहुति देकर उसे रात्रि भर प्रज्ज्वलित रखा जाता है। इसमें दूसरे दिन वरुण देवता को 'चरु'

की आहुति दी जाती है। इसके अनन्तर आह्वनीयाग्नि में मिन्दाहुति संज्ञक आज्य को प्रदान करने का विधान है।[७] यदि अग्नि उद्धरण के पूर्व ही सूर्य उदित हो जाय तो अध्वर्यु को आह्वनीयाग्नि के पश्चिम में बैठकर आज्य की आहुति देनी चाहिए। तदनन्तर अग्निहोत्र द्रव्य को वेदि के मध्य स्थापित कर व्याहृतियों द्वारा अग्नि का उपस्थान करना चाहिए।

ध्यातव्य है कि इस समय यजमान द्वारा अध्वर्यु को दक्षिणा प्रदान की जाती है। अब अध्वर्यु को अपनी श्वाँस रोकने तथा पुनः छोड़कर अग्निहोत्र में दुग्ध की आहुति देने का विधान है।[८] दक्षिणाग्नि के आहरण के पूर्व ही सूर्यास्त हो जाने पर अग्नि का प्रकृतिवत् आहरण कर 'एतं प्रविशानि' इत्यादि मन्त्र पाठ के साथ उसे अग्नि के आयतन में स्थापित करने का निर्देश है।[९]

अग्निहोत्र काल के निकल जाने पर प्रातःकाल 'प्रातर्वस्तोनमः स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा तथा सायंकाल 'दोषावस्तोर्नमः स्वाहा' इस मन्त्र के उच्चारणपूर्वक आहवनीयाग्नि में चतुर्गृहीत आज्य की आहुति अर्पित की जाती है। इसके अनन्तर यजमान द्वारा व्याहृतियों का जाप करके अध्वर्यु को दक्षिणा प्रदान की जाती है। दक्षिणा पाने के अनन्तर अध्वर्यु द्वारा प्रकृतिवत् अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने का विधान है।[१०] अब अग्निहोत्र आहुति के पूर्व दिवाकर के उदय अथवा अस्त हो जाने पर कतिपय आचार्यों ने अग्नियों के उत्सादन एवं उनके पुनः आधान का विधान किया है। एक विकल्प के अनुसार अध्वर्यु अग्निहोत्र-दुग्ध को शीघ्रता के साथ आह्वनीयाग्नि की ओर लाकर वेदि के मध्य रखता है। पुनः यथा सम्भव अपनी श्वाँस को रोकने के अनन्तर निःश्वासित होकर अग्निहोत्र में आहुति का हवन करता है।[११] अग्नि उद्धरण के अनन्तर प्रमादवश पुनः अग्नि का उद्धरण किए जाने पर प्रायश्चित्त स्वरूप अग्निवन्त अग्नि को अष्टाकपालक पुरोडाश की आहुति देने तथा उसका उपस्थान करने का निर्देश है।[१२] दोहन के लिए बछड़े को समीप लाने पर यदि अग्निहोत्री गाय बैठ जाती है तो उसे अभिमन्त्रित करके खड़ा किया जाता है। तदनन्तर उसी के दुग्ध में एक दर्भ स्तम्ब को डुबोकर उसे खिला देने का विधान है।[१३] दोहन के समय अग्निहोत्री

गाय के दुग्ध में यदि रक्त दिखलायी देने लगे तो सभी लोगों को बाहर जाने के लिए प्रैष देने के अनन्तर अध्वर्यु को उस दुग्ध का परिश्रित दक्षिणाग्नि में श्रपण करना चाहिए। तदनन्तर व्याहृति पाठ के साथ उसी दुग्ध की आहुति दी जाती हैं अब उस गाय को ऐसे ब्राह्मण को दान स्वरूप दे देना चाहिए, जिसके घर यजमान को कभी भोजन न करना हो।[१४] दोहन काल में अग्निहोत्र-दुग्ध के स्कन्दित होने पर 'यद्ध दुग्धं पृथिवी.' इत्यादि मन्त्र से अभिमन्त्रित उस दुग्ध में 'समुद्रं व:' मन्त्र से जल मिलाकर आहुति दी जाती है। इसके अनन्तर दूसरी गाय को दुहकर आहुति देनी चाहिए। वैखानस श्रौतसूत्र में गाय को ही दुहकर पुन: आहुति देने के वैकल्पिक नियम का प्रतिपादन किया गया है।[१५] अग्निहोत्र स्थाली के स्रवित होने पर उसे 'गर्म स्रवन्त:' मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित कर 'विधु दद्राण' मन्त्र का पाठ करते हुए सन्धान द्रव्य द्वारा स्राव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए तथा असमर्थ होने पर उसे जल में फेंककर दूसरी अग्निहोत्र स्थाली में दोहन करने का विधान है।[१६] ज्ञातव्य है कि श्रपण के समय अग्निहोत्र-दुग्ध के विष्यन्दित[१७] होने पर उसे पलाश-पर्ण में लेकर 'प्रजापते न:' इत्यादि मन्त्र के द्वारा उत्तर की ओर वल्मीक पर गिरा देना चाहिए।

तदनन्तर 'भू:' मन्त्र से उपस्थान करने का विधान विहित है।[१८] अब अग्निहोत्र दुग्ध के अधिशृत होने पर यदि कोई श्वान आदि गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य से चला जाय तो, गार्हपत्य से भस्म को लेकर उसे 'इदं विष्णुर्विचक्रम०' मन्त्र के द्वारा आहवनीय तक विस्तारित कर देना चाहिए। इसी मन्त्र के द्वारा श्वान के पदचिह्न को भी भस्माच्छादित करना चाहिए। दूसरे आचार्यों के अनुसार उस स्थान को गोबर से पवित्र कर वहाँ एक गाय को चलाया जाता है। यदि अग्निहोत्र-दुग्ध के अधिशृत होने के पूर्व उपर्युक्त स्थिति उपस्थित हो जाय तो 'मनोज्याति:' मन्त्र से आहुति प्रदान करने का विधान है।[१९] इसके अनन्तर स्रुच में प्रथमत: उन्नीत अग्निहोत्र दुग्ध के स्कन्दित होने पर अभिमन्त्रण के पश्चात् उस दुग्ध में जल मिलाना चाहिए। पुन: आज्य की एक आहुति देकर अवशिष्ट दुग्ध की आहुति दी जाती है। तदनन्तर उसी गाय को दुहकर पुन: आहुति अर्पित की जाती हैं। एतदर्थ

विकल्प रूप में अवशिष्ट दुग्ध में ही दूसरी गाय का दोहन करके मिश्रित दुग्ध की आहुति दी जा सकती है। ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त प्रायश्चित्त द्वितीय तथा तृतीय बार नहीं किया जा सकता। चतुर्थ बार स्कन्दित होने पर स्रुच के अवशिष्ट दुग्ध को स्थाली में डालकर चतुरभ्युन्नति दुग्ध की आहुति देने का विधान है।[२०] अग्निहोत्र-दुग्ध में यदि वर्षा की बूँदें गिर जायें तो उस दुग्ध की 'मित्रो जनान०' मन्त्र द्वारा आहुति देने के अनन्तर दूसरी गाय को दुहकर पुनः आहुति देने का विधान है।[२१] यदि गार्हपत्याग्नि बुझ जाय, किन्तु उसी से नैमित्तिक होम के लिए उद्धृत आहवनीयाग्नि प्रज्ज्वलित है तो इस आहवनीयाग्नि को भी बुझा दिया जाता है। तदनन्तर 'इतः प्रथमं जज्ञे' मन्त्र से अग्नि-मन्थन कर गार्हपत्याग्नि की स्थापना तथा पुनः मन्त्र द्वारा गार्हपत्यायतन से आहवनीयाग्नि का प्रणयन करना चाहिए। अब आहवनीयाग्नि का समिन्धन कर तपस्वन्त जनद्वन्त पावकवन्त अग्नि को अष्टाकपालक पुरोडाश की आहुति देनी चाहिए। ज्ञातव्य है कि इस आहुति के विकल्प में 'मित्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा०' इत्यादि मन्त्रों द्वारा आज्य की आहुतियाँ दी जा सकती हैं। यदि आहुति के समय गार्हपत्याग्नि बुझ जाय तो 'उदानः प्रायं०' मन्त्र द्वारा आहवनीयाग्नि पर प्रायश्चित्त की विधि से आहुति देने का विधान है।[२२] अग्निहोत्र-आहुति के पूर्व आहवनीयाग्नि के बुझ जाने पर ज्योतिष्मन्त अग्नि अथवा तपस्वन्त अग्नि को अष्टाकपालक पुरोडाश की आहुति दी जाती है तथा यदि द्वितीय अग्निहोत्र-आहुति के पूर्व आहवनीयाग्नि बुझ जाये तो पुनः बुझे हुए अंगारे पर एक स्वर्ण खण्ड रखकर, 'अग्निदारो०' मन्त्र से द्वितीय आहुति देनी चाहिए। यदि ठीक आहुति के समय ही आहवनीयाग्नि बुझ जाये तो गार्हपत्याग्नि पर 'प्राण उदान०' मन्त्र द्वारा आहुति देने का निर्देश है।[२३] यदि अग्निहोत्र आहुति के समय दक्षिणाग्नि बुझ जाये तो गार्हपत्याग्नि पर 'व्यान-उदान०' मन्त्र द्वारा आहुति देने का विधान है।[२४] यदि सभी अग्नियाँ बुझ जायें तो मन्थन द्वारा गार्हपत्याग्नि को स्थापित कर उससे आहवनीयाग्नि का उद्धरण किया जाता है। ध्यातव्य है कि उद्धरण वायु के प्रवहन दिशा में करना चाहिए। तदनन्तर 'वायवे स्वाहा०' इत्यादि मन्त्र से आहवनीयाग्नि में एक आहुति

देनी चाहिए।

कतिपय आचार्य इसे अग्निहोत्रगत प्रथमाहुति मानते हैं। अब यजमान को आहवनीयाग्नि के पश्चिम भाग में बैठकर व्रत-दुग्ध के पान करने का विधान है।[२५] तदनन्तर यजमान-पत्नी द्वारा अग्नियों के स्पृष्ट होने पर पुनः आधान करने के निर्देश हैं। किसी एक अग्नि के स्पृष्ट होने पर मात्र उसी को मन्थन द्वारा पुनः स्थापित कर पवमान हवियों की आहुति दी जाती है। अग्निहोत्र प्रारम्भ होने पर यदि यजमान-पत्नी अनालम्भुका हो जाय तो उसे अनुष्ठान से पृथक् रखते हुए आहुति देने का विधान विहित है।[२६] यदि दो-तीन या चार दिनों तक अग्निहोत्र आहुति न दी जा सके तो तन्तुमन्त अग्नि के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश की आहुति देनी चाहिए। इसके अनन्तर तन्तुं तन्वन् आदि मन्त्रों से आज्य द्वारा होम करने के अनन्तर स्विष्टकृत् आहुति देनी चाहिए। तत्पश्चात् ही अध्वर्यु द्वारा वे सभी अग्निहोत्र आहुतियाँ देने का विधान है, जो अन्तराल काल में नहीं दी जा सकीं थीं।[२७]

दर्शपूर्णमास याग में अनेकशः विच्छित्ति होने पर अन्वारम्भणीयेष्टि का अनुष्ठान कर अग्नियों का आधान किया जाता है। कतिपय आचार्यों के अनुसार एतदर्थ मात्र पुनराधेय अथवा अग्नयाधेय करने का विधान है।[२८] व्रतोपायन के दिन यजमान-पत्नी के अनालम्भुका होने पर उसे अनुष्ठान से पृथक् रखते हुए यजन किया जाता है। पत्नी-सन्नहन के समय योक्त्र को वेदि के पश्चिम में उदग्र रखकर यजमान अथवा उसके पुत्र द्वारा तत्सम्बद्ध मन्त्र का पाठ किया जाता है। तथैव हवियों की आहुति प्रारम्भ होने के पूर्व यजमान-पत्नी के अनालम्भुका होने पर उपर्युक्त प्रायश्चित ही करणीय है। इसी प्रकार यदि आहुति प्रारम्भ होने के अनन्तर उपर्युक्त स्थिति आ जाये तो यजमान द्वारा पत्नी को पृथक् कर यजन किया जाता है, तथा प्रायश्चित की विधि से अग्नि देवता को अष्टाकपालक पुरोडाश, इन्द्र देवता को एकादश कपालक पुरोडाश तथा सोम देवता को चरु की आहुति दी जाती है। ज्ञातव्य है कि इस याग को विम्रष्टेष्टि कहा जाता है।[२९] जिस समय सान्नाय्य हवि के लिए उपाकृत बछड़ों द्वारा गाय का दूध पी लिए जाने पर दूसरी

गायों का दोहन किया जाता है, उस समय तदर्थ प्रायश्चित स्वरूप वायु के लिए 'यवागू' की आहुति प्रदान की जाती है।

अब उन गायों के वत्सों का पुनः उपाकरण करके दूसरे दिन सान्नाय्य-हवि अर्पित की जाती है।[३०] सायंकालीन दुग्ध-हवि की आर्ति होने पर इन्द्र देवताक ब्रीहि का निर्वपन कर व्रतोपायन किया जाता है। वैकल्पिक रूप में प्रातःकालीन दुग्ध को द्विधा विभक्त करने के अनन्तर एक भाग से दधि तैयार करके उसे सायंकालीन दुग्ध की भाँति प्रयुक्त किया जाता है।[३१] इसी प्रकार प्रातःकालीन दुग्ध की आर्ति होने पर इन्द्र अथवा महेन्द्र देवताक एक पुरोडाश तैयार कर उसकी दधि के साथ आहुति दी जाती है। प्रातः एवं सायं दोनों ही दुग्धों की आर्ति होने पर इन्द्र अथवा अग्नि देवता के लिए पाँच शरावों में ब्रीहि की आहुति दी जाती है। तदनन्तर दूसरे दिन की हवि के लिए वत्सापाकरण करके व्रतोपायन का विधान है।[३२] सान्नाय्य दुग्ध के विष्यन्दित होने पर उसे पलाशपर्ण में लिए हुए उत्तर की ओर जाकर 'प्रजापते न०' इत्यादि मन्त्र के साथ वल्मीक-वपा पर गिरा देने का विधान विहित है।[३३]

इतना ही नहीं, दर्शपूर्णमासेष्टि के पूर्णमास याग में उपवसथ के दिन यदि यजमान की मृत्यु हो जाये तो उसी दिन अपराह्न में जब सूर्य की किरणें वृक्षाग्र पर दृष्टिगत हों, तब पितृमेध का अनुष्ठान किया जाता है। दर्शयाग में उपसवथ के दिन यजमान की मृत्यु होने पर उसकी ओर से पूर्णाहुति दी जाती है। यज्ञानुष्ठान के मध्य यजमान की मृत्यु होने पर सभी पुरोडाशों से अवदान लेकर सभी देवताओं से सम्बद्ध मन्त्रों का पाठ करते हुए आहुति देने का विधान है।[३४] यदि प्रणीता-पात्र से जल टपकने लगे अथवा स्कन्दित हो जाय तो प्रायश्चित स्वरूप 'आपो हिष्ठा०' आदि तीन मन्त्रों द्वारा पुनः जल ग्रहण कर 'ततं य आप०' मन्त्र द्वारा आज्य की एक आहुति देने का विधान है।[३५] सान्नाय्य के अधिशृत होने पर अथवा कोई भी प्राणी या वस्तु गार्हपत्य अथवा हवियों के निरूप्त होने पर यदि रथ पुरुष और आहवनीय के मध्य से चला जाय तो प्रधान आहुति के पूर्व उस स्थान पर गाय के गोबर से मिश्रित जल छिड़क कर एक गाय को चलाना चाहिए। इसके अनन्तर

'वर्धतां भूतिः' इत्यादि मन्त्र से उपस्थान करने अथवा आहुति देने का निर्देश है। पुनः 'देवाजनमगन' आदि मन्त्रों द्वारा छः आहुतियाँ देकर गार्हपत्य से लिए गये भस्म को आहवनीय तक 'इदं विष्णु-विचक्रमे०' इस मन्त्र पाठ के साथ उसे फैला देना चाहिए। इसी मन्त्र से क्रमित पद-चिह्न को भी भस्माच्छन्न कर देने का विधान है।[३६] यदि कोई कपाल उपधान के अनन्तर तथा उपयाग के पूर्व ही नष्ट हो जाय तो प्रायश्चित स्वरूप अश्विनो देवताक द्विकपालक एवं द्यावापृथिवी देवताक एककपालक पुरोडाश की आहुति प्रदेय है। कतिपय आचार्यों ने इस सम्बन्ध में 'मही द्यौः' मन्त्र द्वारा आहुति प्रदान करने का विधान प्रस्तुत किया है। पुरोडाशों के अधिश्रयण के अनन्तर किसी कपालक के नष्ट होने पर व्याहृतियों द्वारा आहुति प्रदान करने का विधान विहित है।[३७] उत्पवन के पूर्व आज्य के स्कन्दित होने पर 'अजा' की दक्षिणा देने अथवा 'जातवेदसे०' आदि मन्त्र द्वारा आहुति देने का निर्देश है। उत्पवन के अनन्तर आज्य के स्कन्दित होने पर कोई चित्र, देदीप्यमान वस्तु दक्षिणा में दी जाती है। सुग्रात-आज्य का स्कन्दन होने पर मन्त्र-पाठ के साथ उस आज्य को पुनः ग्रहण कर अभिमन्त्रित करने का विधान है।[३८]

हवियों की आर्ति होने पर तत्सम्बद्ध देवताओं को आज्य की आहुति प्रदान करके पुनः नवीन हवियों के द्वारा यजन करने का विधान विहित है।[३९] किसी भी ऐसे दोष के परिहार के लिए जिसका प्रायश्चित ज्ञात नहीं है--'अनाज्ञातं पुरुषसंमि-तोयम०' इस मन्त्र द्वारा आज्य की दो आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[४०]

अब आग्रयणेष्टि की अनेकशः विच्छित्ति होने पर इसे सम्पन्न कर अन्वारम्भणीयेष्टि का अनुष्ठान तथा पुनः पवित्र अग्नियों का सन्धान किया जाता है। एतदर्थ कतिपय आचार्यों ने वैकल्पिक रूप में पुनराधेय अथवा अग्न्याधेय का विधान प्रस्तुत किया है।[४१]

चातुर्मास्य के पूर्णतया संस्थित होने के पूर्व ही यदि यजमान की मृत्यु हो जाय, तो सभी हवियों से अवदान ग्रहण कर तत्सम्बद्ध सभी देवताओं के नामोल्लेख पूर्वक स्वाहाकार के साथ आहुति प्रदान की जाती है। तदनन्तर इसी विधि से आज्य की आहुति देने का भी विधान

विहित है।[४२] अनुष्ठान काल में सूर्य के मेघाच्छन्न या ग्रहण ग्रस्त होने पर 'उद्वयं तमसस्यपरि०' आदि तीन मन्त्रों द्वारा आहवनीयाग्नि का उपस्थान करने का विधान विहित है।[४३] यदि एक कपालक पुरोडाश का आपतन हो जाय अथवा उलट जाय, तो अध्वर्यु को उसे यथा स्थान यथा पूर्व पुनः स्थापित कर देना चाहिए तथा यजमान को दो मन्त्रों द्वारा उसे अभिमन्त्रित करना चाहिए। इसके अनन्तर द्यावापृथिवी देवातक आज्य की दो आहुतियाँ देने का निर्देश है।[४४]

चातुर्मास्य याग की अनेकशः विच्छित्ति होने पर इस याग को सम्पादित कर अन्वारम्भणीयेष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। तदनन्तर पवित्र अग्नियों का सन्धान किया जाता है। इस सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों ने विकल्प स्वरूप पुनराधेय अथवा अग्न्याधेय अनुष्ठान सम्पादन का विधान दिया है।[४५]

जिस प्रकार सभी प्रकार के यज्ञों में त्रुटि-निरसन हेतु प्रायश्चित्त विधानों की अनिवार्यता विहित है, उसी प्रकार इस याग की न्यूनता को समाप्त करने अथवा पुष्टि प्रदान करने के लिए प्रायश्चित्त विधानों का निर्देश सभी शाखाओं में किया गया है। इस सन्दर्भ में अविस्मरणीय है कि ब्रह्मा ही इन प्रायश्चित्तों का अनुष्ठान करवाता है, क्योंकि वही यज्ञ का भेषज है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. वैखा०श्रौ०, ३१.१/२०.१, "विध्यपराधे प्रायश्चित्तं दोषनिधातार्थविधीयते।" आप०श्रौ०, ९.१.१, सत्या०श्रौ०, १५.१.१, भा०श्रौ०, ९.१.१

२. भा०श्रौ०, ९.१७.८, यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः।

३. वैखा०श्रौ०, ३१.१/२०.१, आप०श्रौ०, ९.१.२, भा०श्रौ०, ९.१.२, सत्या०श्रौ०, १५.१.२

४. भा०श्रौ०, ९.१.५-६, आप०श्रौ०, ९.१.५-६,सत्या०श्रौ०, १५.१.५-६

५. वैखा०श्रौ०, ३१.१/२०.१, भा०श्रौ०, ९.१.३, आप०श्रौ०, ९.१.३, सत्या०श्रौ०, १५.१.३.५, वैखा०श्रौ०, ३१.२४/२०.२४, आप०श्रौ०, ९.१२.३

६. वैखा०श्रौ०, ३१/४२/२०.४१, बौधा०श्रौ०, २९.१२, कात्या०श्रौ०, २५.११.१४

७. वैखा०श्रौ०, ३१.१२/२०.१२, २०.२६, बौधा०श्रौ०, १४.२४, भा०श्रौ०, ९.९.४-९, आप०श्रौ०, ९.६.१४-७.२, सत्या०श्रौ०, १५.२.२०, मान०श्रौ०, ३.२.१४, कात्या०श्रौ०, २५.३.१७, आश्व०श्रौ०, ३.१२.१३, अथर्व प्राय, १.२.५.१

८. वही, २०.१२-१३, बौधा०श्रौ०, १४.२४, भा०श्रौ०, ९.१०.७-११.१, आप०श्रौ०, ९.७.१०.-८.१, सत्या०श्रौ०, १५.२.२७-२९, मान०श्रौ०, ३.२.१५, कात्या०श्रौ०, २५.३.२०, आश्व०श्रौ०, ३.१२-१३

९. वही, ३१.१२/२०.१२, आप०श्रौ०, ९.६.१२.१३, सत्या०श्रौ०, १५.२.१९

१०. वैखा०श्रौ०, १३.२/२.२, बौधा०श्रौ०, २८.१२, २७.५, भा०श्रौ०, ९.९.१०-१०.६, आप०श्रौ०, ९.७.३-९, सत्या०श्रौ०, १५.२.२२-२३, मान०श्रौ०, ३.३.५-६, ५.१.२.१३, कात्या०श्रौ०, २५.१०.२५, आश्व०श्रौ०, ३.१२-१३, अथर्व प्राय०, १.२

११. वही, ३१.१४/२०.१४, बौधा०श्रौ०, २७.५, भा०श्रौ०, ९.११.४-६, आप०श्रौ०, ९.८.२-४, सत्या०श्रौ०, १५.२.३०-३२, कात्या०श्रौ०, २५.४.१०-१२

१२. वही, २०.१८, श०ब्रा०, १२.४.३.४-५, बौधा०श्रौ०, १३.७.२६.५, भा०श्रौ०, ९.१४.३ आप०श्रौ०, ९.१०.११-१२, सत्या०श्रौ०, १५.३.२१-२२, मान०श्रौ० ३.३.४, ५.१.२.१३, कात्या०श्रौ०, २५.३.११-१४, आश्व०श्रौ०, ३.१३, शां०श्रौ०, ३.४

१३. वही, २०.९, बौधा०श्रौ०, १४.२३, भा०श्रौ०, ९.७.१-२, आप०श्रौ०, ९.५.२-४, सत्या०श्रौ०, १५.२.१-३, मान०श्रौ०, ३.२.१, कात्या०श्रौ०, १५.१.१३, आश्व०श्रौ०, ३.११

१४. वैखा०श्रौ०, ३१.९/२०.९, भा०श्रौ०, ९.८.७, आप०श्रौ०, ९.५.५, सत्या०श्रौ०, १५.२.४, कात्या०श्रौ०, २५.२.२, आश्व०श्रौ०, ३.११

१५. मै०सं०, १.८.३, तै०ब्रा०, १.४.३, वैखा०श्रौ०, २१.९-१०.२०, पृ. १०, बौधा०श्रौ०, १४, २३, भा०श्रौ०, ९.७.४-६, आप०श्रौ०, ९.५.६.८, सत्या०श्रौ०, १५.२.५, मान०श्रौ०, ३.२.२, कात्या०श्रौ०, २५.२.२४, आश्व०श्रौ०, ३१

१६. वैखा०श्रौ०, ३१.९/२०.९, भा०श्रौ०, ९.५.२२, आप०श्रौ०, ९.४.१, सत्या०श्रौ०, १५.१.७५, आश्व०श्रौ०, ३.१०

१७. उबाल आने पर

१८. वैखा०श्रौ०, ३१.५/२०.५, भा०श्रौ०, ९.३.२-३, आप०श्रौ०, ९.२.१४, सत्या०श्रौ०, १५..१.४२, मान०श्रौ०, ३.२.७, कात्या०श्रौ०, २५.२.९, आश्व०श्रौ०, ३.११

१९. वैखा०श्रौ०, ३१.११/२०.११, बौधा०श्रौ०, १४.२३, भा०श्रौ०, ९.९.१-३, आप०श्रौ०, ९.६.११, सत्या०श्रौ०, १५.३.२५-२७, मान०श्रौ०, ३.४.९.१०, कात्या०श्रौ०, २५, ४.१८.१९

२०. वही, ३१.१०/२०.१०, भौ०श्रौ०, ९.७.८, आप०श्रौ०, ९.५.२, सत्या०श्रौ०, १५.२.८.९, मान०श्रौ०, ३.२.४, कात्या०श्रौ०, २५.४.१८.१९

२१. वही, ३१.२/२०.५, भा०श्रौ०, ९.३.८, आप०श्रौ०, ९.२.६, सत्या०श्रौ०, १५.१.४५, मान०श्रौ०, ३.२.८, आश्व०श्रौ०, ३.११

२२. वही, ३१.१६.१७/२०.१६.१७, भा०श्रौ०, ११.७.११, ९.१२.११-१३, १४.९.१२.५:१०, बौधा०श्रौ०, १४.२४.२३.८, आप०श्रौ०, ९.९.१-३, ७-१०, १४, ९.१२.५.१०, सत्या०श्रौ०, १५.३.१-२, ६-१०, १२, १५, कात्या०श्रौ०, २५.३.

विहित है।[४२] अनुष्ठान काल में सूर्य के मेघाच्छन्न या ग्रहण ग्रस्त होने पर 'उद्वयं तमसस्यपरि०' आदि तीन मन्त्रों द्वारा आहवनीयाग्नि का उपस्थान करने का विधान विहित है।[४३] यदि एक कपालक पुरोडाश का आपतन हो जाय अथवा उलट जाय, तो अध्वर्यु को उसे यथा स्थान यथा पूर्व पुनः स्थापित कर देना चाहिए तथा यजमान को दो मन्त्रों द्वारा उसे अभिमन्त्रित करना चाहिए। इसके अनन्तर द्यावापृथिवी देवातक आज्य की दो आहुतियाँ देने का निर्देश है।[४४]

चातुर्मास्य याग की अनेकशः विच्छित्ति होने पर इस याग को सम्पादित कर अन्वारम्भणीयेष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। तदनन्तर पवित्र अग्नियों का सन्धान किया जाता है। इस सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों ने विकल्प स्वरूप पुनराधेय अथवा अग्न्याधेय अनुष्ठान सम्पादन का विधान दिया है।[४५]

जिस प्रकार सभी प्रकार के यज्ञों में त्रुटि-निरसन हेतु प्रायश्चित्त विधानों की अनिवार्यता विहित है, उसी प्रकार इस याग की न्यूनता को समाप्त करने अथवा पुष्टि प्रदान करने के लिए प्रायश्चित्त विधानों का निर्देश सभी शाखाओं में किया गया है। इस सन्दर्भ में अविस्मरणीय है कि ब्रह्मा ही इन प्रायश्चित्तों का अनुष्ठान करवाता है, क्योंकि वही यज्ञ का भेषज है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. वैखा०श्रौ०, ३१.१/२०.१, "विध्यपराधे प्रायश्चित्तं दोषनिधातार्थविधीयते।" आप०श्रौ०, ९.१.१, सत्या०श्रौ०, १५.१.१, भा०श्रौ०, ९.१.१

२. भा०श्रौ०, ९.१७.८, यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः।

३. वैखा०श्रौ०, ३१.१/२०.१, आप०श्रौ०, ९.१.२, भा०श्रौ०, ९.१.२, सत्या०श्रौ०, १५.१.२

४. भा०श्रौ०, ९.१.५-६, आप०श्रौ०, ९.१.५-६,सत्या०श्रौ०, १५.१.५-६

५. वैखा०श्रौ०, ३१.१/२०.१, भा०श्रौ०, ९.१.३, आप०श्रौ०, ९.१.३, सत्या०श्रौ०, १५.१.३.५, वैखा०श्रौ०, ३१.२४/२०.२४, आप०श्रौ०, ९.१२.३

६. वैखा०श्रौ०, ३१/४२/२०.४१, बौधा०श्रौ०, २९.१२, कात्या०श्रौ०, २५.११.१४

७. वैखा०श्रौ०, ३१.१२/२०.१२, २०.२६, बौधा०श्रौ०, १४.२४, भा०श्रौ०, ९.९.४-९, आप०श्रौ०, ९.६.१४-७.२, सत्या०श्रौ०, १५.२.२०, मान०श्रौ०, ३.२.१४, कात्या०श्रौ०, २५.३.१७, आश्व०श्रौ०, ३.१२.१३, अथर्व प्राय, १.२.५.१

८. वही, २०.१२-१३, बौधा०श्रौ०, १४.२४, भा०श्रौ०, ९.१०.७-११.१, आप०श्रौ०, ९.७.१०.-८.१, सत्या०श्रौ०, १५.२.२७-२९, मान०श्रौ०, ३.२.१५, कात्या०श्रौ०, २५.३.२०, आश्व०श्रौ०, ३.१२-१३
९. वही, ३१.१२/२०.१२, आप०श्रौ०, ९.६.१२.१३, सत्या०श्रौ०, १५.२.१९
१०. वैखा०श्रौ०, १३.२/२.२, बौधा०श्रौ०, २८.१२, २७.५, भा०श्रौ०, ९.९.१०-१०.६, आप०श्रौ०, ९.७.३-९, सत्या०श्रौ०, १५.२.२२-२३, मान०श्रौ०, ३.३.५-६, ५.१.२.१३, कात्या०श्रौ०, २५.१०.२५, आश्व०श्रौ०, ३.१२-१३, अथर्व प्राय०, १.२
११. वही, ३१.१४/२०.१४, बौधा०श्रौ०, २७.५, भा०श्रौ०, ९.११.४-६, आप०श्रौ०, ९.८.२-४, सत्या०श्रौ०, १५.२.३०-३२, कात्या०श्रौ०, २५.४.१०-१२
१२. वही, २०.१८, श०ब्रा०, १२.४.३.४-५, बौधा०श्रौ०, १३.७.२६.५, भा०श्रौ०, ९.१४.३ आप०श्रौ०, ९.१०.११-१२, सत्या०श्रौ०, १५.३.२१-२२, मान०श्रौ० ३.३.४, ५.१.२.१३, कात्या०श्रौ०, २५.३.११-१४, आश्व०श्रौ०, ३.१३, शां०श्रौ०, ३.४
१३. वही, २०.९, बौधा०श्रौ०, १४.२३, भा०श्रौ०, ९.७.१-२, आप०श्रौ०, ९.५.२-४, सत्या०श्रौ०, १५.२.१-३, मान०श्रौ०, ३.२.१, कात्या०श्रौ०, १५.१.१३, आश्व०श्रौ०, ३.११
१४. वैखा०श्रौ०, ३१.९/२०.९, भा०श्रौ०, ९.८.७, आप०श्रौ०, ९.५.५, सत्या०श्रौ०, १५.२.४, कात्या०श्रौ०, २५.२.२, आश्व०श्रौ०, ३.११
१५. मै०सं०, १.८.३, तै०ब्रा०, १.४.३, वैखा०श्रौ०, २१.९-१०.२०, पृ. १०, बौधा०श्रौ०, १४, २३, भा०श्रौ०, ९.७.४-६, आप०श्रौ०, ९.५.६.८, सत्या०श्रौ०, १५.२.५, मान०श्रौ०, ३.२.२, कात्या०श्रौ०, २५.२.२४, आश्व०श्रौ०, ३१
१६. वैखा०श्रौ०, ३१.९/२०.९, भा०श्रौ०, ९.५.२२, आप०श्रौ०, ९.४.१, सत्या०श्रौ०, १५.१.७५, आश्व०श्रौ०, ३.१०
१७. उबाल आने पर
१८. वैखा०श्रौ०, ३१.५/२०.५, भा०श्रौ०, ९.३.२-३, आप०श्रौ०, ९.२.१४, सत्या०श्रौ०, १५..१.४२, मान०श्रौ०, ३.२.७, कात्या०श्रौ०, २५.२.९, आश्व०श्रौ०, ३.११
१९. वैखा०श्रौ०, ३१.११/२०.११, बौधा०श्रौ०, १४.२३, भा०श्रौ०, ९.९.१-३, आप०श्रौ०, ९.६.११, सत्या०श्रौ०, १५.३.२५-२७, मान०श्रौ०, ३.४.९.१०, कात्या०श्रौ०, २५, ४.१८.१९
२०. वही, ३१.१०/२०.१०, भौ०श्रौ०, ९.७.८, आप०श्रौ०, ९.५.२, सत्या०श्रौ०, १५.२.८.९, मान०श्रौ०, ३.२.४, कात्या०श्रौ०, २५.४.१८.१९
२१. वही, ३१.२/२०.५, भा०श्रौ०, ९.३.८, आप०श्रौ०, ९.२.६, सत्या०श्रौ०, १५.१.४५, मान०श्रौ०, ३.२.८, आश्व०श्रौ०, ३.११
२२. वही, ३१.१६.१७/२०.१६.१७, भा०श्रौ०, ११.७.११, ९.१२.११-१३, १४.९.१२.५:१०, बौधा०श्रौ०, १४.२४.२३.८, आप०श्रौ०, ९.९.१-३, ७-१०, १४, ९.१२.५.१०, सत्या०श्रौ०, १५.३.१-२, ६-१०, १२, १५, कात्या०श्रौ०, २५.३.

४-९, २५.१०.२१, आश्व०श्रौ०, ३.१२.१३

२३. वही, २०.१६.१७.५, बौधा०श्रौ०, १३.७, २७.११.५,२८.१२, भा०श्रौ०, ९.११-१२, १४, ९.१२.१-४, सत्या० श्रौ०, १५.३१.३-५, १३, १४, २३, १५.१.४७, कात्या०श्रौ०, २५.३.१-३, २५.१०.२०, आश्व०श्रौ०, ३.१२.१३.१४

२४. वही, २०.१७, आप०श्रौ०, ९.१०.४, सत्या०श्रौ०, १५.३.१६, कात्या०श्रौ०, २५.१०.२२

२५. वही, २०.१७-१८, बौधा०श्रौ०, २७.१०-११, आप०श्रौ०, ९.१०.५, ६, सत्या०श्रौ०, १५.३.११.१२, १७, १८, कात्या०श्रौ०, २५.१०.२३-२४

२६. वही, ३१.४/२०.४, बौधा०श्रौ०, २९.१२

२७. वही, ३१.१४-१५/२०.१४-१५, बौधा०श्रौ०, १३.४३, भा०श्रौ०, ९.१४.१, आप०श्रौ०, ९.८.५-८, सत्या०श्रौ०, १५.२.३४.३५, मान०श्रौ०, ३.४.८.५, १.२.१३

२८. वही, ३१.३१/२०.३१

२९. वैखा०श्रौ०, ३१.३१/२०.३१, बौधा०श्रौ०, २९.१०.१२, भा०श्रौ० ९.२.२०, आप०श्रौ०, ९.२.१-३, सत्या०श्रौ०, १५.१.३९-४१

३०. वही,२०.२.३, बौधा०श्रौ०, २७.१३, भा०श्रौ०, ९.२.६-८, आप०श्रौ०, ९.१.२३, २४, सत्या०श्रौ०, १५.१.२४-२६, मान०श्रौ०, ३.१.९, १३, आश्व०श्रौ०, ३.१०

३१. वही, २०,३, बौधा०श्रौ०, २७.१३, भा०श्रौ०, ९.२.९-१३, आप०श्रौ०, ९.१.२५-२८, सत्या०श्रौ०, १५.१.२७-३०, मान०श्रौ०, ३.१.१०- ११, आश्व०श्रौ०, ३.१०

कात्या० श्रौ०, २५.५.२-८

३२. वही, २०.३, बौधा०श्रौ०, २७.१३.२९-१०, भा०श्रौ०, २.९.१४-१९, आप०श्रौ०, ९.१.२९-३४, सत्या०श्रौ०, १५.१.३२.३९, मान०श्रौ०, ३१.१२.१३, कात्या०श्रौ०, २५.५.८-८, आश्व०श्रौ०, ३.१०.१३

३३. वही, २०.५, सत्या०श्रौ०, १५.१.४२, आश्व०श्रौ०, ३.१०, आप०श्रौ०, ९.२.४, भा०श्रौ०, ९.३.२-४

३४. वही, २०.२२, आप०श्रौ०, ९.११.२१, कात्या०श्रौ०, २५.७.७-१०, अथर्व प्राय०, २.९

३५. वही, २०.२४, बौधा०श्रौ०, २७.१, भा०श्रौ०, ९.१५.१७, आप०श्रौ०, ९.१२.२, कात्या०श्रौ०, २५.५.२८

३६. वही, २०.१९, भा०श्रौ०, ९.१४. ४-१३, आप०श्रौ०, ९.१०. १५-१६, सत्या०श्रौ०, १५.३.२५-२७, वाराहयख्प्राय० ३, अथर्वप्राय० ५.२, आश्व०श्रौ०, ३.१०.१३, शां०श्रौ०, ३.४.२

३७. वही, २०.१९, भा०श्रौ०, ९.१६.६-८, बौधा०श्रौ०, ३.१५, आप०श्रौ०, ९.१३.१३-१५, सत्या०श्रौ०, १५.४.७, मान०श्रौ०, ५.१.२४-२०, कात्या०श्रौ० २५.५.१, आश्व०श्रौ०, ३.१३

३८. वही, २०.२७, भा०श्रौ०, ९.१५.८-१६, आप०श्रौ०, ९.१३.१-७, सत्या०श्रौ०, १५.४०.१.६, अथर्व प्राय०, ४.१, मान०श्रौ०, ३.१.२१.३२
३९. वही, २०.२६, बौधा०श्रौ०, २७.१३, भा०श्रौ०, ९.१८.१-४, आप०श्रौ०, ९.१५. १४-१७, सत्या०श्रौ०, १५.४.३४-३७, मान०श्रौ०, ३.१.१३.१७, आश्व०श्रौ०, ३.१०
४०. वही, २०.२६, बौधा०श्रौ०, २७.२, आप०श्रौ०, ९.१२.१२, अथर्व प्राय०, ४.१
४१. वही, २०.३१/२०.३१, आश्व०श्रौ०, २.१५, ऐ०ब्रा०, ७.९
४२. वही, ३१.२२/२०.२२
४३. वही, ३१.२४/२०.२४
४४. वही, ३१.२९/२०.२९, बौधा०श्रौ०, २९.१३, आप०श्रौ०, ९.१४.१२
४५. वही, ३१.३१.२०.३१

अष्टम अध्याय

चातुर्मास्य यज्ञ में विनियुक्त मन्त्र एवं दक्षिणा विधान

मन्त्र विनियोग

प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि यज्ञ के आवश्यक अंग के रूप में मन्त्र स्वीकृत हैं। किसी भी यागानुष्ठान का सफल सम्पादन उनमें विनियोज्य मन्त्रों पर निर्भर करता है। मन्त्रों के देवतादि का परिज्ञान प्राप्त करके ही उनका विनियोग कर्मानुष्ठानों में किया जाता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो लौकिक अथवा वैदिक किसी भी प्रकार की कामना हेतु अनुष्ठित अनुष्ठान फलवान नहीं होता।[१] ज्ञातव्य है कि प्रत्येक याग किसी न किसी कामना की पूर्ति हेतु विहित होता है और इस कामना की पूर्ति किसी देवता विशेष द्वारा ही सम्भव होती है। उस देवता की अर्चना में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग ही उपयुक्त होता है। ऐसा नहीं कि मन्त्र किसी अन्य देवता को समर्पित हों और यज्ञ स्थल में कोई और देवता उस मन्त्र से आहूत होता हो। इसलिए मन्त्र कहीं तो यज्ञ-प्रेरक वाक्य के रूप में लक्षित किये गये हैं और कहीं विहितार्थ विधायक रूप में।[२] इसीलिए सायण ने अनुष्ठान स्मारक के रूप में भी मन्त्र का प्रयोजन यज्ञ-अनुष्ठान में विहित किया है।[३] जबकि आचार्य लौगाक्षि भास्कर ने अनुष्ठान काल में द्रव्य, देवता तथा कर्मादि का समन्वित अर्थ स्मरण दिलाने वाले के रूप में मन्त्रों को प्रतिपादित किया है।[४] इस

प्रकार यागानुष्ठानों में मन्त्रों का विनियोग परमाश्वयक है। मन्त्र विनियोग के अभाव में यज्ञ मूक हो जाता है। देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से द्रव्यार्पण मन्त्र-विनियोग के अभाव में सम्भव नहीं होता, क्योंकि मन्त्रोच्चारण से ही आहुति-द्रव्यों का देवताओं के लिए निर्देशन होता है। साथ ही देवताओं का आह्वान मन्त्रों से ही सम्भव है। मन्त्र-विनियोग से एकल देवता, युगल देवता अथवा सकल देव समुदाय का अवदान सुनिश्चित किया जाता है, जिससे देवों को अपनी-अपनी आहुति प्राप्त होती है। इतना ही नहीं क्रियमाण कर्म की प्रासंगिकता की अभिव्यक्ति उसमें विनियुक्त मन्त्रों से होती है, जो यज्ञ-कर्म की समृद्धि करता है।[5] भारद्वाज आचार्य ने यज्ञानुष्ठानों के आदि प्रदृष्टा के रूप में इसीलिए तो मन्त्रों का स्वरूप निश्चित किया है।[6] शतपथ ब्राह्मण की मान्यता इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि ''मन्त्रों के माध्यम से ही यज्ञ का देवों से सह सम्बन्ध होता है।''[7]

इस प्रकार याज्ञिक अनुष्ठानों में मन्त्र विनियोग परम आवश्यक होता है। चातुर्मास्य याग में विनियुक्तव्य मन्त्रों की अनेकधा प्राप्त होती है। विभिन्न शाखाओं की अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप इस याग के चारों पर्वों के लगभग सभी उपक्रमों में भिन्नता प्रतिपादित है। एतदर्थ चाहे यजुर्वेदीय शुक्ल शाखा के ब्राह्मण अथवा श्रौतसूत्र अथवा कृष्ण शाखा के उभय विधि ग्रन्थ हों, ऐसी स्थिति में सबके मन्त्र विनियोगों की सापेक्षिक व्यवस्था का आकलन करने का एक प्रयास किया जा रहा है। इससे इस याग के चारों पर्वों में विनियोज्य ऋचाओं, यजुषों एवं साम मन्त्रों आदि का अवबोधन प्राप्त किया जा सकता है। विविध मन्त्र संहिताएँ तथा उनके मन्त्र सन्दर्भ अनुष्ठान प्रसंगों के अनुसार सारणीबद्ध रुप में अग्रांकित हैं–

सारणी

वैश्वदेवपर्व

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग
१	२	३
		वैश्वदेव याग
ऋग्वेद	७.१०२.१	प्रारम्भिक दिन के कृत्य
"	७.९८.२	"
"	५.८३.४	"
"	१०.९०.१६	"
"	५.८२.७	"
"	६.७१.६	"
"	७.३८.७-८	"
"	१.१०५.९	हविर्निर्वाप फलीकरण एवं
"	८.१२.१६	श्रपण
"	९.१०.२	"
"	१०.१.७	"
"	१०.१५९.३	"
"	३.२७.१	अग्निमन्थन
"	६.१६.१०	"
"	६.१६.६	"
"	६.१६.१२	"
"	३.२७.१३	"
"	३.२७.१४	"
"	३.२७.१५	"
"	१.१२.१	"
"	३.२७.४	"
"	५.२८.५	"
"	५.२८.६	"

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग
ऋग्वेद	३.२७.५	अग्नि मंथन
"	३.२७.६	"
"	३.२७.१.४	"
"	१०.५३.२.४	"
"	१३.१४	"
"	१.९३.९.५	वैश्वदेव याग
"	७.४९.७	"
"	७.९३.४	"
"	८.६.१	"
"	१०.५०.४	"
"	१.९८.२	"
"	६.७.२	"
"	६.१०२.१	"
"	५.८३.४	"
"	५.८३.५	"
"	५.१३.४	"
"	१.९१.९	"
"	८.४४.१६	"
"	१०.८.६	"
"	१.९१.४	"
"	५.८२.६	"
"	१.२२.५	"
"	६.६१.६	"
"	५.४२.३	"
"	६.५४.९	"
"	६.५८.१	"
"	६.९५.५	"
"	६.५९.११	"

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग
ऋग्वेद	६.६६.९	वैश्वदेवयाग
,,	२.४१.१३	,,
,,	६.५२.६	,,
,,	४.६.४	,,
,,	६.५२.१५	,,
,,	८.९०.१४	,,
,,	८.९६.८	,,
अ०सं०	१९.१३.२	यजनीय दिन के कृत्य
,,	११.१.१६-८	,,
,,	७.७४.१	,,
,,	४.२३.१	अग्निमन्थन
अ०सं०	६.५५.२	प्रयाज आहुतियाँ
,,	६.६१.३	,,
,,	१.९.३	प्रधान याग एवं वाजिन् याग
,,	५.७.६	,,
,,	१७.१.१८	,,
,,	६.५४.२	,,
,,	२.१६.४	वैश्वदेव याग
,,	४.१५.६	,,
,,	५.२५.२	,,
,,	५.२४.७	,,
,,	५.२४.१	,,
,,	७.७०.१	,,
,,	५.२४.६	,,
,,	९.२.६	,,
,,	५.२४.३	,,
,,	३.१६.६	,,
अपै०सं०	७.४.२	यजनीय दिन के कृत्य
,,	१६.८.२	हविर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग
,,	१६.९०.६-८	हविनिर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
,,	१९.२७.३	,,
,,	४.३१.१	अग्निमन्थन
,,	१.१०६.३	प्रयाज आहुतियाँ
,,	१.१९.३	प्रधान याग एवं वाजिन् याग
,,	७.८.९	,,
,,	१८.३.२	,,
,,	१९.८.५	,,
,,	१९.४७.६	,,
,,	२.४३.५	वैश्वदेव याग
,,	५.७.३	,,
,,	१५.७.८	,,
,,	१५.८.४	,,
,,	१५.७.१०	,,
,,	२०.२६.१०	,,
,,	१६.७६.६	,,
,,	४.३१.६	,,
तै०सं०	१.८.२	देवता एवं द्रव्य
,,	४.१.११	प्रारम्भिक दिन के कृत्य
,,	१.१.४	यजनीय दिन के कृत्य
,,	१.६.८	,,
,,	१.६.८.२-३	,,
,,	३.२.४४	,,
,,	१.१.४	हविर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
,,	१.५.१०	,,
,,	१.१.५	,,
,,	१.६.८	,,
,,	१.१.६-७	,,

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग
तै०सं०	१.१.८	हविनिर्वाप, फलीकरण एवं श्रपण।
,,	२.६.३	,,
,,	१.१.१०	,,
,,	१.६.१	,,
,,	१.१०.३	,,
,,	२.५.७-११	,,
,,	२.६.१-२	प्रयाज आहुतियाँ
,,	१.१.११	,,
,,	१.६.२	,,
,,	१.६.२	प्रधान याग एवं वाजिन् याग
,,	२.६.६	,,
,,	२.५.३	,,
,,	२.६.२	आग्नेय पुरोडाश याग
,,	४.१.११	,,
मै०सं०	१.१०.७	अनुष्ठान काल
,,	१.१०.१	देवता एवं द्रव्य
,,	१.१०.५-९	प्रारम्भिक दिन के कृत्य
,,	४.१०.३	,,
,,	१.१०.१	,,
,,	१.४.१	यजनीय दिन के कृत्य
,,	४.१.४	,,
,,	१.४.१०	,,
,,	१.१.५	हविर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
,,	१.१.६-८	,,
,,	४.१.६-८	,,
,,	४.१.९	,,
,,	४.१.१०	,,
,,	१.४.६	,,
,,	१.१.१०	,,
,,	४.१.१०, १३	,,
,,	१.१.११	,,

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग
मै०सं०	१.१.४	हविर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
,,	४.१.१२	,,
,,	१.४.९	,,
,,	१.४.१.२-३	प्रयाज आहुतियाँ
,,	४.१०.३	,,
,,	१.१०.९	,,
,,	४.१.१४	,,
,,	१.५.१२	प्रधान याग (आग्नेय पुरोडाश याग)
,,	१.१०.९	वाजिन् याग
कपि०सं०	८.७	देवता एवं द्रव्य
,,	८.७	प्रारम्भिक दिन के कृत्य
,,	८.७	यजनीय दिन के कृत्य
,,	१.४-५	हर्विर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
,,	४.७.३-४	,,
,,	१.५-७	,,
,,	२७.४-६	,,
,,	१.८, ४७-७	,,
,,	१.९	,,
,,	८७.८	,,
,,	१.१०	,,
,,	४७.९	,,
का०सं०	९.४-५	देवता एवं द्रव्य
,,	३६.१-४	प्रारम्भिक दिन के कृत्य
,,	३६.३-४	,,
,,	९.४	,,
,,	३१.३	यजनीय दिन के कृत्य
,,	१.४.५	हविर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
,,	३१.३-४	,,
,,	१.५-७	,,

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग
का० सं.	३१.४-६	हविनिर्वाप, फलीकरण एवंश्रपण
''	१.८	''
''	३१.७	''
''	१.९	''
''	३१.८	''
''	१.१०	''
''	५.६	''
''	३१.९	''
''	३६.१-४	अग्निमन्थन
''	२.१५	''
''	५.१-२	''
''	३.२.१	''
''	४.१४,५	प्रयाज आहुतियाँ
''	१.३१.१५	''
''	९.४	''
''	३२.१	प्रधान याग एवं वाजिन् याग
''	५.१-२	''
''	३६.४	''
''	२०.१५	''
''	३६.३-४	''
वा०का०सं०	३.९	वैश्वदेव याग
''	२.३	''
''	१.३	''
वा०का०सं०	१.३-४	हर्विर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
''	१.५-७	''
''	१.८	''
''	१.९	''
ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग

		वैश्वदेव याग
,,	१.१०	हविर्विाप, फलीकरण एवं श्रपण
,,	१.६	यजनीय दिन के कृत्य
,,	१.६-१३	हविर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
,,	१.१४-२०	,,
,,	१.२०	,,
,,	१.२१-२३	,,
,,	१.२४-२८	,,
,,	१.२९-३१	,,
,,	३.१२	प्रधान याग एवं वाजिन् याग
,,	८.२१, २२	,,
	वरुणप्रघास पर्व	
ऋ०सं०	७.९४.७	वरुणप्रघास याग
,,	६.६०.१	,,
,,	१.८६.१	,,
,,	५.५८.५	,,
,,	१.२४.१९	,,
,,	१.२४.११	,,
,,	१.१२१.१	,,
,,	१.३७.२	,,
,,	५.५०.१०	,,
,,	१.२४.८	,,
यजु०	३.४५	करम्भ पात्र होम
,,	३.४८	अवभृथ
तै०सं०	१.८.३	देवता एवं द्रव्य
,,	१.८.३	हविर्निर्वाप
,,	१.८.३	करम्भ पात्रों का निर्माण एवं मेष मेषीकरण
,,	१.८.३	हविरासादन
ग्रन्थ	**मन्त्र संख्या**	**याग**

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग
का० सं.	३१.४-६	हविनिर्वाप, फलीकरण एवंश्रपण
,,	१.८	,,
,,	३१.७	,,
,,	१.९	,,
,,	३१.८	,,
,,	१.१०	,,
,,	५.६	,,
,,	३१.९	,,
,,	३६.१-४	अग्निमन्थन
,,	२.१५	,,
,,	५.१-२	,,
,,	३.२.१	,,
,,	४.१४,५	प्रयाज आहुतियाँ
,,	१.३१.१५	,,
,,	९.४	,,
,,	३२.१	प्रधान याग एवं वाजिन् याग
,,	५.१-२	,,
,,	३६.४	,,
,,	२०.१५	,,
,,	३६.३-४	,,
वा०का०सं०	३.९	वैश्वदेव याग
,,	२.३	,,
,,	१.३	,,
वा०का०सं०	१.३-४	हर्विर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
,,	१.५-७	,,
,,	१.८	,,
,,	१.९	,,
ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग

		वैश्वदेव याग
''	१.१०	हविर्विाप, फलीकरण एवं श्रपण
''	१.६	यजनीय दिन के कृत्य
''	१.६-१३	हविर्निर्वाप फलीकरण एवं श्रपण
''	१.१४-२०	''
''	१.२०	''
''	१.२१-२३	''
''	१.२४-२८	''
''	१.२९-३१	''
''	३.१२	प्रधान याग एवं वाजिन् याग
''	८.२१, २२	''
		वरुणप्रघास पर्व
ऋ०सं०	७.९४.७	वरुणप्रघास याग
''	६.६०.१	''
''	१.८६.१	''
''	५.५८.५	''
''	१.२४.१९	''
''	१.२४.११	''
''	१.१२१.१	''
''	१.३७.२	''
''	५.५०.१०	''
''	१.२४.८	''
यजु०	३.४५	करम्भ पात्र होम
''	३.४८	अवभृथ
तै०सं०	१.८.३	देवता एवं द्रव्य
''	१.८.३	हविर्निर्वाप
''	१.८.३	करम्भ पात्रों का निर्माण एवं मेष मेषीकरण
''	१.८.३	हविरासादन
ग्रन्थ	**मन्त्र संख्या**	**याग**

		वरुणप्रघास याग
तै०सं०	१.८.३.१	अग्निमन्थन
''	१.८.३	करम्भ पात्र होम
''	४.४.११-१	''
''	४.४.११.१	प्रधान याग
''	१.४.१४	''
''	१.४.४.५,२	अवभृथ
''	४.२.११	वरुण प्रघास याग
मै०सं०	१.१०.१	देवता एवं द्रव्य
''	१.१०.१	प्रथम दिन के कृत्य
''	१.१०.१	हविर्निर्वाप
''	१.१०.११	करम्भ पात्रों का निर्माण एवं मेष मेषीकरण
''	१.१०.१	हविरासादन एवं अग्निमन्थन
''	१.१०.२	करम्भ पात्र होम
''	१.३.१६	प्रधान याग
''	१.१०.१०-१३	अवभृथ
''	४.१०.४	''
कपि०सं०	८.७	वरुणप्रघास पर्व
का०सं०	९.४	देवता एवं द्रव्य
''	९.४	प्रथम दिन के कृत्य
''	९.४	हविर्निर्वाप
''	३६.६	करम्भपात्रों का निर्माण
''	३६.५-६	'' एवं मेष मेषीकरण
''	९.४	''
''	९.४	हविरासादन
का०सं०	९.४	करम्भ पात्र होम
''	१.६.३	प्रधान याग
''	४.७	''
''	३६.५-६	अवभृथ

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग

		वरुणप्रघास याग
का०सं०	२१.१३	वरुणप्रघास याग
वा०सं०	३.४४.४८	करम्भ होम
,,	७.३०	प्रधान यार्ग
	साकमेध पर्व	
ऋ.सं.	२.९.६	साकमेध याग
,,	८.४४.१२	,,
,,	८.९१.११	,,
,,	७.५९.९	,,
,,	७.५८.८	,,
,,	१.४५.६	,,
,,	२.२५.७	,,
,,	१.१.१३	,,
,,	१.९१.१२	,,
,,	७.५९.१०	,,
,,	७.५६.१४	,,
,,	७.१.३	,,
,,	७.१.१८	,,
,,	१.७४.३	क्रीडनीयेष्टि
,,	८.७९.१	,,
,,	१.३७.१	,,
,,	७.५६.१६	,,
,,	५.४.५	,,
,,	५.२८.३	,,
,,	४.३२.१	महाहविष्याग
,,	६.२५.८	,,
,,	१०.८१.६	,,
,,	१०.८१.५	,,
,,	१०.८१.७	,,
ग्रन्थ	**मन्त्र संख्या**	**याग**

साकमेध याग

ऋग्वेद	१०.१६.१२	महापितृयाग
,,	१०.१५.१	,,
,,	९.९६.११	,,
,,	१०.१५.५	,,
,,	१०.१४.६	,,
,,	१०.१५.८	,,
,,	१.९१.१	,,
,,	१.९१.२०	,,
,,	८.४८.१३	,,
,,	१०.१५.४	,,
,,	१०.१५.३	,,
,,	१०.१५.२	,,
,,	१०.१५.११	,,
,,	१०.१५.१३	,,
,,	१०.१५.१४	,,
,,	१०.१६.५	,,
,,	१०.१४.४	,,
,,	१०.१४.५	,,
,,	१०.१४.१	,,
,,	१०.५९.९	,,
,,	४.११.३	,,
,,	१०.१६.११	,,
,,	१०.१५.१२	,,
,,	१.८२.३	,,
,,	५.६.१	,,
,,	१०.५६.१-६	,,
,,	५.२४.१-४	,,
,,	१.८२.२	,,
,,	१.८२.१	,,
ग्रन्थ	**मन्त्र संख्या**	**याग**

ऋग्वेद		साकमेध याग
''	७.६६.१६	महापितृयाग
''	१.१.३	साकमेध याग
''	१.९१.१२	''
''	८.६७.१०	''
''	७.१.३	''
''	७.१.१८	''
''	३.५९.६	''
''	३.५९.५	''
यजु०	३.४९	पूर्णद्रर्व्य होम
''	३.५०	साकमेधपर्व
''	३.५८, ५९	''
''	३.६०	''
''	३.५७	''
तै०सं०	१.८.४-६	साकमेध याग
''	१.८.४	''
''	१.४.१४	''
''	१.७.१२.२	''
''	१.६.१२.१	''
''	३.२.५.५	''
''	१.८.६	''
''	१.८.६.१	''
''	४.३.१३	''
मै०सं०	१.१०.२-४	''
''	१.१०.१	''
''	१.१०.१४-२०	''
''	१.१०.१६	''
''	१.१०.१-२	''
''	१.१०.१९	''

ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	याग

		साकमेध याग
मै०सं०	१.१०.१९	साकमेध याग
''	१.१०.२०	''
''	१.१०.१७	''
''	४.१०.५-६	''
कपि०सं०	८.८-१०	''
''	८.८	''
का०सं०	९.५-७	''
''	९.५	''
''	९.५-६	''
''	९.६	''
''	३६.१२	''
''	३६.११	''
''	३६.१४	''
''	२१.१३	''
वा०सं०	३.४९-६१	''
''	३.४९-५०	''
		शुनासीरीय याग
ऋ०सं०	४.५७.५,८	शुनासीरौ शब्द का प्रयोग
''	४.५७.४,८	''
''	७.९२.१	''
''	७.९२.३	सुनाम शब्द का प्रयोग
''	८.२६.२५	सुनासीरीय याग
''	७.६२.३	''
''	७.९०.२	''
''	८.२६.२१	''
''	५.४३.३	''
''	४.५७.५	''
''	४.५७.८	''
''	१०.१६०.५	''
''	३.३०.२२	''
''	७.५०.४	''
''	१.११५.१	''
ग्रन्थ	**मन्त्र संख्या**	**याग**

ऋ०सं०		शुनासीरीय याग
,,	७.६३.४१	शुनासीरीय याग्
तै०सं०	१.८.७	,,
,,	१.४.१४	,,
मै०सं०	१.१०.१	,,
,,	४.३.३	,,
,,	२.६.२	,,
,,	१.८.३	,,
,,	४.१०.६	,,
का०सं०	१५.२	,,
,,	२१.१४	,,

प्रस्तुत प्रसङ्गानुसारी मन्त्र विनियोगों की सारणी से यह स्पष्ट होता है कि चातुर्मास्य याग के चारों पर्वों में चारों वेदों के मन्त्रों का प्रयोग होता था। यद्यपि याज्ञिक दृष्टिकोण से अथर्ववेद को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है तथापि इस याग में ऋग्वेद,यजुर्वेद तथा सामवेद एवं उनकी अनेकशः शाखाओं के मन्त्रों के बाहुल्य विनियोग के साथ ही अथर्ववेद के मन्त्र भी विनियुक्त किये गये हैं। सम्भव है कि इस वेद के मन्त्र के विनियोग का कारण शाखागत विकास का प्रभाव हो। सापेक्षिक दृष्टिकोण से चातुर्मास्य यज्ञ के अनुष्ठान सम्पादन में प्रत्येक शाखा के आचार्यों द्वारा पूर्ण वैज्ञानिकता के साथ मन्त्रों के विनियोग का विधान दिया गया है।

चातुर्मास्य यज्ञ में दक्षिणा-विधान

प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि दक्षिणा भी यज्ञ का एक आवश्यक अंग है। इसका विधान यागानुष्ठानों में ऋत्विजों की सन्तुष्टि एवं यज्ञ की सफलता हेतु परम आवश्यक एवं अनिवर्य है। दक्षिणा ही ऋत्विजों का पारश्रमिक है। यज्ञानुष्ठानों में दक्षिणा अनेक पदार्थों के रूप में प्रदान की जाती है। यही कारण है कि याज्ञिक ग्रन्थों में, प्रत्येक श्रौतयाग में अनिवार्यतः दक्षिणा-विधानों का वर्णन किया गया है। चातुर्मास्य याग के सभी पर्वों में विहित दक्षिणा विधानों

का विवेचन अग्रलिखित है :-

१. वैश्वदेव पर्व की दक्षिणा

चातुर्मास्य याग के प्रथम पर्व वैश्वदेव याग के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रारम्भिक दिन के अनुष्ठान में देय दक्षिणा के सम्बन्ध में सभी विद्वानों में मतैक्य है। एतदर्थ इस अनुष्ठान में सभी आचार्य प्रथमज बैल की दक्षिणा का निर्देश देते हैं।[८] इसी पर्व में अनुष्ठेय प्रधान याग एवं वाजिन् यागानुष्ठान में भी प्रथमज बैल की दक्षिणा देने का विधान है।[९]

२. वरुणप्रघास पर्व की दक्षिणा

चातुर्मास्य यज्ञ के द्वितीय पर्व वरुणप्रघास के अन्तर्गत अनुष्ठेय प्रधान याग के अनुष्ठान में यज्ञाचार्यों के अनुसार दक्षिणा के रूप में दो गायें प्रदेय हैं।[१०]

३. साकमेध पर्व की दक्षिणा

इस पर्व में उपानुष्ठान के रूप में अनुष्ठेय महाहविष् याग में प्रदेय दक्षिणा के सम्बन्ध में सर्वत्र मतमतान्तर प्राप्त होते हैं। एतदर्थ तीन मत उपलब्ध होते हैं। प्रथम मत के अनुसार एक बैल[११] तथा द्वितीय मत से एक गाय[१२] एवं तृतीय मत के अनुसार प्रथमोत्पन्न वत्स[१३] दक्षिणा में अर्पणीय हैं।

इसी पर्व के अन्तर्गत एक और उपानुष्ठान के रूप में अनुष्ठेय त्र्यम्बकेष्टि में अर्पणीय दक्षिणा के रूप में एक ऋषभ प्रदान करने का विधान है।[१४]

४. शुनासीरीय पर्व की दक्षिणा

चातुर्मास्य यज्ञ के अन्तर्गत चतुर्थ पर्व के रूप में अनुष्ठेय शुनासीरीय याग में प्रदेय दक्षिणा के सम्बन्ध में मत-मतान्तरों का बाहुल्य प्राप्त होता है। एतदर्थ प्रथम मत के अनुसार इस याग में १२ बैलों के साथ एक हल दक्षिणा में दिया जाता है।[१५] आपस्तम्ब एवं भारद्वाज श्रौतसूत्र के अनुसार सविकल्प १२ अथवा ६ बैलों के साथ एक हल दक्षिणा में अर्पण करने का विधान है।[१६] जबकि आचार्य कात्यायन इस याग में एक सफेद बैल को दक्षिणा के रूप में अर्पण करने का निर्देश देते हैं।[१७]

ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण चातुर्मास्य यज्ञ के सम्पादन हेतु पाँच ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। इन ऋत्विजों की संख्या चातुर्मास्य याग की प्रकृति दर्शपूर्णमास से एक अधिक होती है। अर्थात् ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु एवं आग्नीध्र के अतिरिक्त इस याग के पाँचवें ऋत्विज् का नाम प्रतिप्रस्थाता है।[१८] इन्हीं पाँचों ऋत्विजों के लिए दक्षिणाओं का विधान विहित किया गया है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि पूर्वलखित दक्षिणा-विधानों के अतिरिक्त इन ऋत्विजों की सन्तुष्टि हेतु इन्हें उत्तम भोजन, सुश्रूषा एवं सम्मान भी प्रदान किया जाता है, जो इन ऋत्विजों की दक्षिणा का ही एक अंश अथवा रूप है।

निष्कर्षतः चातुर्मास्य याग में विनियुक्त मन्त्र एवं दक्षिणा-विधानों के आधार पर कहा जा सकता है कि हविर्यागों के अन्तर्गत यह यज्ञ एक महत्त्वपूर्ण याग है, जिसका सम्पादन अक्षय्य सुकृत प्रदान करने वाला है।[१९] इसे सौमिक यागों में भी अनिवार्यतः सम्पादित किया जाता है। यह इस याग की अपनी विशिष्टता है, जो अन्य किसी भी याग में अप्राप्य है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१. वृहद्देवता १,
२. जैमिनि मीमांसा सूत्र, २.२.३२, एवं जैमिनि न्याय माला विस्तर २.१.२२ ''विहितार्थाविधायकाः मन्त्राः।''
३. ऋ०भा०भू०,पृ० ५८
४. अर्थसंग्रह मन्त्र प्रकरण, पृ० १७९, ''प्रयोग समवेतार्थ स्मारकाः मन्त्राः।''
५. ऐ०ब्रा०, १.४, गो०ब्रा०, २.२.६, २.४.२
६. भा०श्रौ०, १.१.२१, ''आदि प्रदृष्टा मन्त्राः भवन्ति।''
७. श०ब्रा०, १.३.४.६
८. श०ब्रा०, २.५.१.२१, ''तस्य प्रथमजोगौर्दक्षिणा'' शांखा०ब्रा०, ५.१-२, कौषी०ब्रा० ५.१.१-३, २-२१, का०सं०, ९.४, कपि०सं०, ८.७
९. कपि०सं०, ८.७, ''तस्य प्रथमजोगौर्दक्षिणा'' का०सं०, ९.४, श०ब्रा०, २.५. १-२१, कौषी०ब्रा०, ५.१.१-३, २.२१, शांखा०ब्रा०, ५.१-२, काश०ब्रा०, १. ६.४, भा०श्रौ०, ८.३.९, मान०श्रौ०, १.७.२.८, बौधा०श्रौ०, ५.४, पृ. १३१, वैखा०श्रौ०, १९.६/८.६, आप०श्रौ०, १९.६/८.२.१९

१०. वा०का०सं०, ३.५, "अथ यन्मिथुनौ गावौ ददाति" वा०सं०, ३.५, का०श०ब्रा०, १.५.१, १.६.४, शांखा०ब्रा०, ५.३-४, गो०ब्रा०, १.२२, कौषी०ब्रा०, ५.३.३-५. १९, मान०श्रौ०, १.७.४, २६, भा०श्रौ०, ८.१०.१०-१२, वैखा०श्रौ०, १९. १३/८.१३, आप०श्रौ०, ८.७.५.७

११. गो०ब्रा०, २.१.२३-२४, "अथ यदृषभं ददाति" शांखा०ब्रा०, ५.५-६, वारा०श्रौ०, १.७.३.२७, मान०श्रौ०, १.७.६.३५, कात्या०श्रौ०, ५.७.१२

१२. आप०श्रौ०, ८.१३.१, वैखा०श्रौ०, २०.३/९.३

१३. भा०श्रौ०, ८.१५.८, "प्रथमजो वत्सो दक्षिणा"।

१४. वै०को०,पृ० ३९७

१५. तै०सं०, १.८.७, वैखा०श्रौ०, २०.१२/९.१२

१६. आप०श्रौ०, ८.२०.९.१०, भा०श्रौ०, ८.२४.९, पृ. ११८

१७. कात्या०श्रौ०, ५.११.१२-१४

१८. श्रौ०प०नि०, ११९.५

१९. श०ब्रा०, २.६.३.१, "अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्य याजिनो भवति।" ताण्ड्य०ब्रा०, १७.१४.२, तै०ब्रा०, १.६.८, जै०ब्रा०, ११.२.१२, वैखा०श्रौ०, १९.३/८.३, सत्या०श्रौ०, २.५.१

नवम अध्याय

उपसंहार

यज्ञ का अर्थ

यज्ञ वैदिक धर्म के मूल में प्रतिष्ठित है। यह सम्पूर्ण सचराचर सृष्टि तथा उसकी समुन्नति का आधार है। कर्मकाण्डीय यज्ञ वस्तुत: प्रकृति द्वारा निरन्तर सम्पादित यज्ञ का अनुकरण है। मनीषियों ने प्रकृति यज्ञ के रहस्यों को समझा और समस्त विश्व के कल्याण हेतु कर्मकाण्डीय यज्ञ का प्रचलन किया। यह यज्ञ वेदाश्रित है।

देवताओं के निमित्त द्रव्य (हव्य-पदार्थ) का त्याग अथवा देव विशेष के लिए अग्नि में हव्य पदार्थों का प्रक्षेपण यज्ञ कहलाता है।

यज्ञ के अङ्ग

देवता, मन्त्र, ऋत्विज्, द्रव्य एवं दक्षिणा इन पाँच अङ्गों का समाहार होने के कारण यज्ञ पाङ्क्त कहा जाता है। इनके सम्यक् विनियोग से ही यज्ञ की पूर्णता एवं सफलता सम्भव होती है। ये पञ्चाङ्ग अन्योन्याश्रित तथा अनुपेक्षणीय हैं।

यज्ञ का वर्गीकरण तथा संस्थाएँ

यज्ञों का वर्गीकरण उनके स्वरूप, अग्नियों तथा द्रव्य के आधार पर किया गया है। स्वरूप के अनुसार दो प्रकार के यज्ञ होते हैं: १. प्रकृतियाग एवं २. विकृतियाग। जिस यज्ञ में उसके समस्त अङ्ग सम्यक् रूपेण विधेय होते हैं, वह प्रकृतियाग है तथा जिसमें विकृतियों का विधान होता है, वह विकृति याग। कतिपय याग प्रकृति तथा विकृति दोनों रूपों में होते हैं, यथा चातुर्मास्य याग का प्रथम पर्व वैश्वदेव।

अग्नियों के आधार पर यज्ञों का विभाजन श्रौत एवं स्मार्त रूप में किया गया है तथा द्रव्यों के अनुसार की जाने वाली इष्टियों का

सम्बन्ध स्मार्तग्नि से है। इस अग्नि में पाक संस्था के होमादि का विधान विहित है।

हव्य द्रव्यों के अनुसार यज्ञों का त्रिधा विभाजन किया गया है, जो यज्ञ की विभिन्न संस्थाओं के रूप में विश्रुत हैं। ये हैं: १. पाक याग संस्था, २. हविर्याग संस्था तथा ३. सोमयाग संस्था। ये संस्थाएँ वस्तुतः स्मार्तयाग में ही अन्तर्भूत हैं।

चातुर्मास्य याग : अर्थ, माहात्म्य और पर्व

चातुर्मास्य याग का समावेश स्मार्तयाग में होता है। यह चार-चार मास में सम्पादित होने वाला ऋतु-सम्बन्धी भैषज्य यज्ञ है। ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों के अनुसार इस यज्ञ को सम्पन्न करने वाला व्यक्ति अक्षय्य सुकृत (कभी न नष्ट होने वाले पुण्य) को प्राप्त करता है, जिसके फलस्वरूप उसे स्वर्ग की भी प्राप्ति हो जाती है। अधिकतर आचार्यों ने इसे वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध तथा शुनासीरीय इन चार पर्वों में विभक्त किया है।

चातुर्मास्य यज्ञ : एक ऐतिहासिक अनुशीलन

वेद को ही ब्रह्म अथवा त्रयी विद्या माना गया है, जिसके द्वारा सृष्टि का विकास दर्शाया गया है और जिसका प्रतीक अग्नि है। 'वेद ही यज्ञ के उद्‌भव स्थल हैं' इस कथन की अपेक्षा यह कहना अधिक सार्थक तथा तर्कसंगत है कि 'यज्ञ-विद्या ही वेद-विद्या है'। सृष्टि के आदि में यज्ञ का ही सृजन हुआ था, जिसके द्वारा सृष्टि का संचालन एवं विकास होता गया। इस यज्ञ-कर्म का संचालन प्रकृति स्वयं करती है। इसी के अनुकरण के फलस्वरूप कर्मकाण्डीय यज्ञों का प्रचलन पुस्तकाकार वेदों के मन्त्रों के माध्यम से मानव द्वारा किया गया। इन यज्ञों का प्रचलन, वेदों एवं वेद-मन्त्रों का सृजन प्रागैतिहासिक युग के उस सुदूर काल में हुआ होगा, जो तिमिराच्छन्न एवं अज्ञेय है। ईसा पूर्व ३००० के लगभग विद्यमान सिन्धु सभ्यता के कतिपय स्थलों में प्राप्त हवन-कुण्डों के प्रमाण से हम उस काल में यज्ञों का प्रचलन स्वीकार कर सकते हैं।

चातुर्मास्य यज्ञ प्रकृति यज्ञ का व्याख्याता होने के कारण कर्मकाण्डीय यज्ञ के उद्‌भव के प्रायः साथ ही साथ अथवा उसके

कुछ ही समय बाद से प्रचलित हो गया होगा। वैदिक संहिताओं से उस काल में इसका प्रचलन सिद्ध होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसका विपुल विस्तार देखने को मिलता है। निश्चयत: उस युग में इसकी लोकप्रियता एवं ख्याति चरमोत्कर्ष पर थी। आरण्यक तथा उपनिषद् साहित्य में भी चातुर्मास्य यज्ञ के सन्दर्भ मिलते हैं। श्रौतसूत्रों में तो इस याग के अनुष्ठान की प्रक्रियाओं का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

स्पष्टत: वैदिक संहिताओं के काल से लेकर श्रौतसूत्रों के काल तक यह यज्ञ व्यापक रूप में प्रचलित रहा है तथा इसे अत्यधिक लोकप्रियता भी प्राप्त रही है। प्रतीत होता है कि कालान्तर में अपनी दीर्घकालिकता, जटिलता तथा बौद्ध धर्म के प्रभाव स्वरूप इस यज्ञ का भी तिरस्कार हो गया। व्यवस्थाकारों द्वारा इसकी कालावधि को अतिशय न्यून करके इसे पुनर्प्रतिष्ठापित किए जाने का प्रयास परिलक्षित होता है।

चातुर्मास्य यज्ञ के पर्व

चातुर्मास्य यज्ञ के निम्नलिखित चार पर्व अधिकतर व्यवस्थाकारों को मान्य हैं : १. वैश्वदेव पर्व, २. वरुणप्रघास पर्व, ३. साकमेधपर्व तथा ४. शुनासीरीय पर्व।

१. वैश्वदेव पर्व

वैश्वदेव पर्व का अनुष्ठान शिशिर तथा बसन्त के सन्ध्याकाल में फाल्गुन अथवा चैत्रमास में प्रारम्भ किया जाता था। इस इष्टि के देवता अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती तथा पूषा हैं, जिनके लिए पुरोडाशों तथा चरुओं की हवि दिये जाने का विधान किया गया है। पाँच प्रधान देवों के अतिरिक्त इस पर्व के मरुत, वैश्वदेव तथा द्यावापृथ्वी नामक तीन सामान्य सञ्चर भी हैं, जिनके लिए भी हवियाँ प्रदेय हैं। यह पर्व चातुर्मास्येष्टि का प्रकृति याग है, जिसके सम्पादनार्थ हविर्यागों के प्रकृतियज्ञ (दर्शपूर्णमासों) की आनुष्ठानिक विधाओं को भी आधार बनाना पड़ता है।

२. वरुणप्रघास पर्व

इस पर्व का अनुष्ठान यजमान द्वारा अपने घर के बाहर ऐसे स्थान पर किया जाता था, जहाँ पर्याप्त मात्रा में पौधे उगे हों। इसकी याज्ञिक

क्रियाएँ वैश्वदेव पर्व की क्रियाओं के प्रायः समान ही हैं क्योंकि इस पर्व का प्रकृतियाग वैश्वदेव पर्व ही है। इसके अनुष्ठान का प्रारम्भ वैश्वदेवपर्व के प्रारम्भ के ठीक चार माह बाद आषाढ़ अथवा श्रावण मास में किया जाता था। वैश्वदेव पर्व के देवता ही इस पर्व के देवता हैं। उन पञ्च प्रधान देवों के अतिरिक्त चार अन्य सामान्य सञ्चरों-क्रमशः ऐन्द्राग्न, मरुत, वरुण तथा 'क' को भी हवियाँ प्रदेय हैं।

३. साकमेधपर्व

इस पर्व का अनुष्ठान वरुणप्रघास पर्व के प्रारम्भ के ठीक चार माह बाद कार्तिक अथवा मार्गशीर्ष महीने में आरम्भ किया जाता था। इसके पूर्व दोनों पर्वों के पाँच प्रधान देवता ही इस पर्व के भी प्रधान देवता माने गये हैं। इनके अतिरिक्त अग्नि अनीकवान, सन्तपन मरुतगण तथा गृहमेधी मरुतगण इसके तीन सञ्चर हैं, जिनमें से प्रथम के लिए अष्टकपालक पुरोडाशों तथा दूसरे एवं तीसरे देवताओं के लिए चरु अर्पित किये जाने का विधान है।

इस पर्व के सम्पादन में उपवसथ (चतुर्दशी) के दिन अनीकवती, सन्तपन एवं गृहमेधी इष्टियों का विधान किया जाता है। मुख्य यजनीय दिवस (पूर्णिमा) के कृत्यों में पूर्ण दर्व्य होम, क्रीडनीयेष्टि तथा महाहविष् याग का सम्पादन विहित है। महाहविष् याग के सम्पादनार्थ ऐन्द्राग्न, इन्द्र तथा विश्वकर्मा देवताओं के निमित्त विभिन्न द्रव्यों से आहुतियाँ देने का विधान है। इसी याग के अन्तर्गत महापितृयाग के अनुष्ठान भी सम्पन्न होते हैं, जिनमें पितृमान सोम देवता के लिए षट्कपालक पुरोडाश का, बर्हिषद् पितर देवताओं के निमित्त धाना का तथा अग्निष्वान्त पितर देवताओं के निमित्त मन्थ का विधान विहित किया है। महापितृयाग के अनन्तर त्र्यम्बकेष्टि, जिसके एकमात्र देवता रुद्र हैं, का अनुष्ठान सम्पन्न होता है। साकमेधपर्व की अन्तिम इष्टि आदित्येष्टि है। इस इष्टि के एकमात्र देवता अदिति हैं, जिनके लिए घी में पकाये गये चरु को अर्पित करने का विधान किया गया है। अन्त में पूर्णमासेष्टि के सम्पादन के साथ इस पर्व का अनुष्ठान सम्पन्न होता है। चातुर्मास्य यज्ञ के उपर्युक्त तीनों पर्व चार-चार माह पर अनुष्ठित होते थे।

४. शुनासीरीय पर्व

साकमेध पर्व के दो, तीन, पन्द्रह दिन अथवा एक मास, एक ऋतु या चार मास के अनन्तर यह पर्व सम्पादित होता है। पूर्वोल्लिखित पञ्चसञ्चर आहुतियों के अतिरिक्त इस पर्व की पाँच अन्य आहुतियाँ : १. इन्द्राग्नि, २. वैश्वदेवों, ३. इन्द्र शुनासीर देवता, ४. वायु और ५. सूर्य देवताओं के निमित्त अर्पणीय हैं।

चातुर्मास्य यज्ञ में प्रायश्चित विधान

किसी भी यज्ञ के सम्पादन में अनपेक्षित एवं आकस्मिक कारणों से त्रुटियों का हो जाना स्वाभाविक है। यज्ञ की त्रुटियाँ यजमान के लिए अशुभ फल प्रदान करती हैं। अतएव विहित प्रयश्चित्तों द्वारा उनका निक्षेप अनिवार्य है।

व्यवस्थाकारों ने चार्तुर्मास्य यज्ञ में होने वाली त्रुटियों के शमन हेतु प्रायश्चित्त विधान का वर्णन किया है। इसका उत्तरदायित्व ब्रह्मा नामक ऋत्विज् को दिया गया है। वह तृटियों का निरीक्षण करता है और शास्त्र-विहित रीति द्वारा उनका प्रायश्चित्त करवाता है। (द्र० इसी ग्रन्थ का सप्तम अध्याय)

चातुर्मास्य यज्ञ में विनियुक्त मन्त्र तथा दक्षिणा विधान

मन्त्र एवं दक्षिणा यज्ञ के विशेष घटक हैं। शुद्ध मन्त्र-विनियोग तथा विधिपूर्वक दी गयी दक्षिणा पर ही यज्ञ की सफलता निर्भर है। विभिन्न ऋत्विजों द्वारा विनियुक्त किये जाने वाले विविध मन्त्रों तथा उनको प्रदेय दक्षिणाओं का विधान व्यवस्थाकारों ने किया है। (पूर्णज्ञान हेतु द्र० है इसी ग्रन्थ का अष्टम अध्याय)।

इस ग्रन्थ के अनुशीलन से चातुर्मास्य यज्ञ से सम्बन्धित सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में विहित आनुष्ठानिक प्रक्रिया आदि का पूर्ण परिज्ञान हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

परिशिष्ट-१

पारिभाषिक शब्दावली

अध्वर्यु : यजुर्वेद के ऋत्विज् को अध्वर्यु कहते हैं। यह होतृ, उद्गातृ और ब्रह्मन् से भिन्न होता है।

अधिश्रपण : दूध, मक्खन अथवा चावल को अग्नि पर पकाने अथवा उबालने को अधिश्रपण कहते हैं।

अनुप्रहरण : किसी वस्तु को अग्नि में निक्षिप्त करना ही अनुप्रहरण है।

अनुयाज : यह प्रधान याग के अनन्तर किया जाने वाला याग है। यह याग अग्नि देवता से सम्बद्ध है। ऐ०ब्रा० २.१८ में एकादश देव विशेषों को अनुयाज कहा गया है। प्रयाज शब्द यज्ञ के प्रथम अंग को सूचित करता है तथा अनुयाज शब्द शेष अंग को, किन्तु परिशिष्ट अंग के लिए उपयाज शब्द प्रयुक्त होता है।

अनुवाक्या : होता एवं मैत्रावरुण नामक ऋत्विज् द्वारा देवताओं को याग में भाग ग्रहण करने के लिए आह्वान करते समय पढ़ा जाने वाला मन्त्र अनुवाक्या मन्त्र कहलाता है।

अन्वारम्भण : पीछे से स्पर्श करने की क्रिया को अन्वारम्भण कहते हैं।

अन्वाहार्य : जिससे यज्ञ सम्बन्धी दोष-समूह का परिहार होता है, वह अन्वाहार्य है। (अन्वाहरति यज्ञसम्बन्धिदोषजातं परिहरति अनेन इति) अन्वाहार्य एक विशिष्ट प्रकार का ओदन है, जो ऋत्विजों के प्राशनार्थ पकाया जाता है। इसका प्रयोग दर्शपूर्णमासेष्टि की दक्षिणा के रूप में भी होता है।

अभिधारण : हवन हेतु ली गयी हवि का घृत से प्रोक्षण करना अभिधारण कहलाता है।

अभिधानी : अश्व की रशना को अभिधानी कहते हैं।

अभिमन्त्रण : मन्त्र द्वारा यज्ञिय प्रयोग हेतु किसी वस्तु को पवित्र करने को अभिमन्त्रण कहते हैं।

अभिमर्शण : किसी वस्तु को स्पर्श करना अभिमर्शण कहलाता है।

अवदान : आहुति देने के लिए हवि से काटे गये भाग को अवदान की संज्ञा प्राप्त है।

अवभृथ : याज्ञिक प्रकरण में किया जाने वाला स्नान अवभृथ कहलाता है। यह प्राय: यज्ञ की समाप्ति पर किया जाता है। इसके साथ ही कुछ आहुतियाँ भी दी जाती हैं।

आघार : अग्नि के किसी एक ओर से लेकर दूसरी ओर तक मन्त्र के साथ अथवा विना मन्त्र के आज्य धारा का आहरण अथवा डालना आघार कहलाता है।

आज्य भाग : आघार आहुति देने के बाद अग्नि के उत्तरी भाग में अग्नि देवता के लिए तथा दक्षिणी भाग में सोम देवता के लिए दी गयी (दोनों) आहुतियाँ 'आज्य भाग' कहलाती हैं। द्र० आश्व०गृ०सू०, १.१०.१३-१५, ''आघारौ आघार्य्य आज्य भागौ जुहुयात् अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा इति, स०श्रौ०, २२.२०.१, आज्यभागौ इति द्वयो:...। तै०सं०, ३.६.२.१

आमिक्षा : गाय के गरम दूध में यदि दही डाल दिया जाय, तो वह दो प्रकार का हो जाता है। १. द्रवीभूत, और २. घनीभूत। उसमें से द्रवीभूत अंश को आमिक्षा, पयस्या तथा घनीभूत अंश को वाजिन् कहते हैं।

आवसथ्य : अग्नि में प्रयुक्त होने वाली एक प्रकार की अग्नि को आवसथ्य कहते हैं।

आस्तरण : वेदि पर कुश फैलाना आस्तरण कहलाता है। व्रात्य के आसन (आसन्दी) के बिछौने को भी आस्तरण कहते हैं।

आहवनीय : वैदिक साहित्य में आहवनीय उस अग्नि को कहते हैं, जिसमें सामान्यतया आहुति डाली जाती है। इसके अतिरिक्त गार्हपत्य

और दक्षिणाग्नि भी दो विशेष महत्त्वपूर्ण अग्नियाँ हैं।

इध्म : पलाश वृक्ष की एक हाथ लम्बी अट्ठारह समिधाओं को इध्म कहते हैं।

उत्कर : आहवनीय के उत्तर में वेदि के भीतर कूड़ा आदि फेंकने के लिए बनाया गया गड्ढा उत्कर कहलाता है।

उत्पवन : उदग्र पवित्रों द्वारा जल को ऊपर की ओर छिड़ककर शुद्ध, पवित्र करना उत्पवन कहलाता है।

उदयनीय : किसी भी याग के अन्त भाग से सम्बद्ध इष्टि को उदयनीय इष्टि कहते हैं। याग की आरम्भिक इष्टि को प्रायणीय कहते हैं।

उपसर्जनी : पिष्ट अन्न को सानने के निमित्त गरम किया गया जल उपसर्जनी कहलाता है।

उद्वसानीय : याग की अन्तिम आहुति उद्वसानीयाहुति कहलाती है।

उद्गीथ : सामवेद का एक प्रकार का विशिष्ट गान उद्गीथ कहलाता है। यह उद्गाता के पद से सम्बद्ध है।

उपवसथ : किसी याग के पूर्व दिवस (विशेषकर सोम याग के) को उपवसथ कहा जाता है। इस दिन यज्ञ की दीक्षा लेकर उपवास करने का विधान है।

उपस्तरण : आहुति के लिए हवि लेने के पूर्व हवन करने वाले स्रुच् में घृत लेना उपस्तरण कहलाता है।

उपाकरण : समीप लाने की क्रिया को उपाकरण कहते हैं।

उपांशु : इतनी मन्द शब्दावाली में मन्त्र-पाठ करना कि इसे कोई सुन न सके।

उल्मुक : अग्नि जलाने हेतु प्रयुक्त किया जाने वाला अग्नि का टुकड़ा व अंगार ही उल्मुक है।

ऋत्विज् : याज्ञिक के लिए सामान्यतया ऋत्विज् शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिन्हें पुरोहित पद द्वारा भी अभिहित किया जाता रहा है।

औपानस : गृह्ययागों में प्रयुक्त होने वाली अग्नि को औपानस

अग्नि कहते हैं।

कपाल : पुरोडाश पकाने हेतु मृत्तिका-निर्मित पात्र कपाल कहलाता है। इन कपालों को निर्दिष्ट क्रम में रखना कपालोपधान कहलाता है।

करम्भ : दही एवं जौ के आटे को मिलाकर बनाया गया हविर्द्रव्य करम्भ कहलाता है।

कृष्णाजिन् : कृष्ण मृग का चर्म कृष्णाजिन् की संज्ञा से अभिहित होता है। ब्राह्मणों में कहीं-कहीं इसका प्रयोग यज्ञ के अर्थ में हुआ है।

चरु : घी अथवा दूध में पकाया गया चावल अथवा जौ निर्मित हविर्द्रव्य को चरु कहते हैं।

चात्वाल : वेदि के उत्तर की ओर खोदे गये वर्गाकार गड्ढे को चात्वाल कहते हैं। यह तीन वितस्ति या ३६ अंगुल का बनाया जाता है।

चातुर्मास्य : द्रष्टव्य है अध्याय एक, पृ० १४-१५

दक्षिणा : यज्ञ कराने वाले पुरोहितों को पुरस्कार या पारश्रमिक रूप में दी जानेवाली सामग्री दक्षिणा कही जाती है।

दक्षिणा-पथ : दक्षिण दिशा का मार्ग।

धाना : भुने हुए जौ को धाना कहा जाता है।

निष्काष : पात्र की सतह में उबले हुए दूध का लगा हुआ अनुपयुक्त भाग निष्काष कहलाता है।

निर्वाप : देवता विशेष के उद्देश्य से यज्ञिय द्रव्य का पृथक्करण 'निर्वाप' कहलाता है। द्र०आप०श्रौ०, १.१७.१०, व्याख्या 'देवतार्थत्वेन पृथक्करणं निर्वापः'।

निवान्या : ऐसी गाय, जिसके बछड़े के मर जाने पर उसके सामने दूसरा बछड़ा खड़ाकर दोहन किया जाता है, निवान्या कही जाती है।

पत्नी संयाज : दर्शपूर्णमास याग में सोम, त्वष्टा, देव-पत्नियों तथा अग्निगृहपति को दी जाने वाली घी की चार आहुतियाँ पत्नी संयाज की आहुतियाँ हैं।

पत्नी सन्नहन : मूँज की रस्सी से यजमान पत्नी के जघन प्रदेश को बाँधना पत्नी सन्नहन कहलाता है।

परिग्रह : स्फ्य के द्वारा वेदि के अन्त में तीन रेखायें खींचना वेदि-परिग्रह कहलाता है।

परिधि : आहवनीय के चारों ओर रखी जाने वाली पलाश की एक बाहु लम्बी समिधाएँ परिधि कहलाती हैं।

परिस्तरण : वेदि के चारों ओर कुश बिछाने को परिस्तरण कहते हैं।

पर्यग्निकरण : यज्ञिय पशु के चारों ओर जलती हुई लकड़ी ले जाने की क्रिया को पर्यग्निकरण कहते हैं।

पवित्र : नोक सहित, कुश निर्मित दो दल युक्त एक प्रादेश लम्बा पवित्र कहलाता है।

पर्यूहन : छिद्रों को धूल या मिट्टी से भरना पर्यूहन कहलता है।

पुरोडाश : चावल अथवा जौ के आटे से निर्मित्त कपाल पर रखी गयी एक प्रकार की रोटी पुरोडाश कहलाती है। इसका हविर्द्रव्य के रूप में अन्ततः हवन किया जाता है।

पुरोनुवाक्या : किसी देवता को होम में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करने के मन्त्र को पुरोनुवाक्या कहते हैं।

पृषदाज्य : जमा हुआ घी पृषदाज्य कहलाता है।

प्रचरण : आहुति देना अथवा हविर्द्रव्य को अग्नि में डालना प्रचरण कहलाता है।

प्रणीता : आहवनीय के उत्तर की ओर पात्र में रखा गया जल प्रणीता कहलाता है।

प्रत्याश्रावण : अध्वर्यु द्वारा आश्रावण किए जाने पर आग्नीध्र द्वारा 'अस्तु श्रौइषट्' रूप में दिया गया उत्तर प्रत्याश्रावण या प्रत्याश्रुत कहा जाता है। द्र०सत्या०श्रौ०, २.१.१८६, आप०श्रौ०, २.१५.३

प्रयाज : आज्य की वे आहुतियाँ जो कि प्रधान याग के पूर्व अर्पित की जाती हैं, प्रयाज आहुतियाँ कहलाती हैं। दर्शपूर्णमास याग में प्रयाज याग में पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, जिनके देवता क्रमशः समित, समिध, तनूनपात, नाराशंस, इड, बर्हि .एवं स्वाहाकार हैं।

प्रस्तर : बर्हिराहरण के समय मन्त्र पाठ के साथ काटी गयी प्रथम कुशमुष्टि को प्रस्तर की संज्ञा प्राप्त है।

प्रादेश : (फैलाने पर) अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्य की दूरी को प्रादेश कहते हैं।

प्राशित्र : आहुति के अवशिष्ट हवि का वह भाग जो ब्रह्मा को दिया जाता है, प्राशित्र की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

प्रैष : याज्ञिक प्रसंग में प्रायः अध्वर्यु द्वारा निर्देश देने वाले मन्त्रों को प्रैष मन्त्र कहते हैं।

फलीकरण : तण्डुलों को साफ करना फलीकरण कहलाता है।

मन्थ : निवान्या गाय के दूध को आधे भुने हुए जौ वाले पात्र में रखकर ईख के डंठल द्वारा मन्थन करने से तैयार हवि को 'मन्थ' कहते हैं।

मार्जन : मन्त्र-पाठ के साथ शिर का जल से प्रोक्षण करना मार्जन कहलाता है।

वत्सापाकरण : सान्नाय्य हेतु गाय से दूध दुहने के लिए बछड़ों को उनसे अलग करने को वत्स अपाकरण कहते हैं।

विहार : वह यज्ञ-स्थल, जहाँ यज्ञिय प्रज्ज्वलित अग्नियाँ सुरक्षित रखी जाती हैं, विहार कहा जाता है।

वेद : बछड़े के घुटने के आकार का बनाया गया एक दर्भ गुच्छ, जिसका प्रयोग मन्त्र पाठ के साथ वेदि को स्वच्छ करने में होता है, वेद कहलाता है। श्रौ०प०नि०, १०.६३, दर्शपूर्णमास प्रकाश यज्ञायुध, पृ. ३।

वेद परिवासन : वेद के बनाने के पश्चात् दर्भ के अवशिष्ट भाग को 'वेद-परिवासन' कहते हैं।

व्रतोपायन : यज्ञ करने का संकल्प कर तदनुकूल आचरण करना व्रतोपायन कहलाता है।

शकल : पलाश की ईंधन की लकड़ी को शकल कहते हैं।

शंयुवाक् : यजमान के ऐश्वर्य की कामना से शंयु (बृहस्पति के पुत्र) की स्तुति के मन्त्रों का पाठ करना शंयुवाक् कहलाता है।

समिष्ट यजुष् : वेदि निर्माण के समय वेदि पर स्थापित कुश के ऊपर यजुष् मन्त्र-पाठ के साथ स्फ्य द्वारा प्रहार करने से खुदी हुई कुशयुक्त मिट्टी को समिष्ट यजुष् कहते हैं।

सामिधेनी : अग्नि समिन्धन में विनियुक्त ऋचाओं की संज्ञा सामिधेनी है (आप०श्रौ०, १.२.३)।

स्तम्ब-यजुष : दर्शपूर्णमास के आरम्भ में याजुष् मन्त्रों को पढ़कर काटा गया दर्भ स्तम्ब यजुष् कहलाता है।

सान्नाय्य : प्रातःकालीन गर्म दूध में सायंकालीन खट्टे दूध अथवा दही को मिलाने से तैयार हवि को सान्नाय्य हवि कहते हैं।

स्विष्टकृत : प्रधान याग को जो भली प्रकार स्विष्ट करता है, उसे स्विष्टकृत कहते हैं।

परिशिष्ट-२

यज्ञिय पात्र

१. हवन के पात्र

अग्निहोत्रहवणी : अग्निहोत्र होम में प्रयुक्त स्रुच् को अग्निहोत्र हवणी शब्द से अभिहित किया जाता है। यह विकंकत काष्ठ से निर्मित हंस के मुख के आकार की दण्डयुक्त होती है। यह प्रादेश मात्र, बाहुमात्र या अरत्निमात्र लम्बी होती है। आप०श्रौ०, ६.३.६, श्रौ०प०नि०, ६.३८, य०त०प०, ३४, दर्शपूर्णमास प्रकाश यज्ञायुध, पृ० २, रघुवीर इम्पलीमेण्ट्स एण्ड वेसेल्स यूज्ड इन वैदिक सक्रीफाइल जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैण्ड, १९३४

उपभृत : आहुति देने वाले स्रुच् या चमस को उपभृत् कहते हैं। यह अश्वत्थ के काष्ठ से निर्मित, बिलयुक्त, दण्डयुक्त, एक अरत्नि, बाहुमात्र या एक प्रादेश लम्बी होती है। इसका मुख हथेली की भाँति होता है, किन्तु अग्रभाग हंस के चोंच के समान होता है। अध्वर्यु होम के समय इसे बायें हाथ में जुहू के समीप धारण करता है। तै०सं०, ३.५.७.२, अथर्व०सं०, १८.४.५-६, कात्या०श्रौ०, १.३.३६, तै०ब्रा०, १. ३.२.११, श्रौ०प०नि०, ८.४७, सत्या०श्रौ०, १.४.१०९

जुहू : पलाश की लकड़ी से बनायी गयी, बाहु के बराबर लम्बी, हंस के जैसे मुखवाली स्रुक् को जुहू कहते हैं। "हूयते अनया इति जुहू।" सत्या०श्रौ०, १.४.१०९, श्रौ०प०नि०, ८.४.६, तै०सं०, ३.५.७.१, अथर्व०सं०, १८.४.५.६, ऋ०सं०, ८.४.४.५

ध्रुवा : विकंकत काठ की बनी हुई, जुहू के समान आकार की याग की समाप्ति तक वेदि पर रहने वाली ध्रुवा होती है। बराबर बनी रहने के कारण यह ध्रुवा कहलाती है। तै०सं०, ३.५.७.३, श्रौ०प०नि०,

८.४९, द्र०प्र० यज्ञायुध, पृ० ३

प्रचरणी : प्रचरणी जुहू के आकार की विकंकत की लकड़ी से बनी होती है। इसका प्रयोग सोमयागों में आहुति देने के लिए किया जाता है। श्रौ०प०नि०, २२८.१२९

वसा होम हवणी : इससे वसा का हवन किया जाता है।

स्रुवा : स्रुवा का प्रयोग आज्य ग्रहण करने के लिए किया जाता है। यह एक अरत्नि लम्बी खदिर की लकड़ी की बनी होती है।

२. अग्नि से सम्बद्ध

अरणि : यजनीय अग्नि को अग्नि मन्थन से उत्पन्न करने के लिए अश्वत्थ वृक्ष की जिन दो लकड़ियों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें अरणि कहते हैं। उनमें से नीचे वाली अधरारणि और ऊपर वाली उत्तरारणि कहलाती हैं। य०त०प्र०, पृ० ८

उखा : उखा मिट्टी से बनाया गया वह वर्गाकार पात्र, जिसे आग पर चढ़ाकर दूध गरम किया जाता है। सत्या०श्रौ०, ११.१.५१-५७, कात्या०श्रौ०, १६.३.२२-३०

उपवेष : यह पलाश शाखा के मूल भाग का प्रादेश मात्र बनाया जाता है। इसके द्वारा अंमार उलटने का कार्य किया जाता है। इसका दूसरा नाम धृष्टि है। सत्या०श्रौ०, १.३.९१, द०प्र० यज्ञायुध पृ० ४, य०त०प्र०, पृ. ३५

धवित्र : कृष्ण मृग के चर्म से अग्नि जलाने के लिए बनाये हुए पंखे को धवित्र कहते हैं।

३. सामान्य पात्र एवं चमस

आधवनीय : निकाले हुए सोम को जिसमें रखा जाता है, उस घड़े को आधवनीय कहा जाता है। म०वै०व्या०, सत्या०श्रौ०, ८.१.७७७, श्रौ०प०नि०, २५५.२१८

इडा-पात्री : वरने की लकड़ी से बनायी गयी एक अरत्नि लम्बी, दो अंगुल गहरी, किनारों पर दो अंगुल के हत्थेवाली पात्री को इडापात्री कहते हैं। म०वै०व्या०, सत्या०श्रौ०, १.४.११०, वैखा०श्रौ०, २२.८.११.८, श्रौ०प०नि०, ८.५१, इ०ए०व०यू० इन वै०सै०ज० आफ रा०ए०सो०, १९३४

पिन्वन : प्रवर्ग्य याग में दूध दुहते समय हत्थे सहित प्रयुक्त होने वाला पात्र पिन्वन कहलाता है।

प्रणीता : वरण काष्ठ से निर्मित चमस को प्रणीता कहा जाता है। इसका दण्ड ४ अंगुल, बिल ८ अंगुल तथा यह प्रादेश मात्र होती है। इसका प्रयोग संस्कृत जल ले जाने के लिए होता है। श्रौ०प०नि०, ९.५८, वैखा०श्रौ०, २२.८/११.८, कात्या०श्रौ०, १.३.३७

प्राशित्र हरण : ब्रह्मा के पात्र को प्राशित्रहरण कहते हैं।

प्रोक्षणी : प्रोक्षण निमित्त जल रखने वाले पात्र को प्रोक्षणी कहते हैं।

मदन्ती पात्र : मदन्ती जल रखने वाले चमस को मदन्ती पात्र कहते हैं।

महावीर : प्रवर्ग्य याग में धर्म बनाने वाले पात्र को महावीर कहते हैं।

शूर्प : धान की भूसी और चावल अलग करने के लिए प्रयुक्त होने वाले यन्त्र को शूर्प कहते हैं।

स्थाली : स्थालियों का प्रयोग सामग्रियों को पकाने के लिए अथवा पकी हुई सामग्री को रखने के लिए किया जाता है, जो निम्नलिखित हैं–

१. अग्निहोत्र स्थाली, २. आग्रयण स्थाली, ३. आज्य स्थाली, ४. आदित्य स्थाली, ५. उक्थ्य स्थाली, ६. ध्रुव स्थाली, ७. ब्रह्मौदन स्थाली, ५. चमस

न्यग्रोध या रौहीतक वृक्ष के दण्ड रहित चम्मच को चमस कहा जाता है। वैकल्पिक रूप से चमस दण्डयुक्त भी बनाये जाते हैं, (सत्या०श्रौ०, ८.१.७७३) जो अग्रलिखित हैं–

१. अच्छावाक-चमस, २. आग्नीध्र-चमस, ३. उद्गातृ-चमस, ४. नेष्ट-चमस, ५. पोतृ-चमस, ६. प्रशास्तृ-चमस, ७. ब्रह्म-चमस, ८. ब्राह्मणशंसी-चमस, ९. यजमान-चमस, १०. होतृ-चमस

६. पीसने तथा कूटने के सामान्य यन्त्र

उपला : लोढ़ा-छोटा पत्थर, पीसने वाला।

दृषद्-सिल : बड़ा पत्थर, जिस पर रखकर पीसा जाता है।

मूसल : यह धान आदि कूटने का औजार है।

शम्या : चक्की के पाट में लगायी जाने वाली लकड़ी को शम्या कहते हैं।

उलूखल : जिसमें धान आदि कूटा जाता है, उसे उलूखल की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसे ओखली भी कहा जाता है।

७. स्थिर औजार

चषाल : यूप के सिरे पर रखी जाने वाली काठ की अँगूठी को चषाल कहते हैं।

यूप : यज्ञ में पशु बाँधने के लिए प्रयुक्त होने वाला खूँटा 'यूप' कहलाता है।

स्थूण : प्रवर्ग्य याग में गाय बाँधने के लिए प्रयुक्त होने वाले उदुम्बर की लकड़ी के खूँटे को स्थूण कहते हैं।

८. पाक क्रिया से सम्बद्ध पात्र

मेक्षण : वारण काष्ठ निर्मित्त अरत्नि मात्र दर्वी को मेक्षण कहते हैं। इसका प्रयोग आग पर चावल आदि चलाने के लिए किया जाता है। श्रौ०प०नि०, ९.५३, द०प्र० यज्ञायुध, पृ० ३, य०त०प्र०, पृ० ३५

कपाल : पुरोडाश पकाने के निमित्त प्रयुक्त होने वाला मिट्टी का पात्र 'कपाल' कहलाता है।

वपा-श्रपणी : वपा को पकाने का पात्र वपा श्रपणी कहलाता है।

९. यातायात सम्बन्धी साधन

१. रथ,, २. शकट (बैलगाड़ी)

१०. तिपाई और आसन

उखा-आसन्दी : उखा रखने का स्टूल।

उपस्तम्भन : गाड़ी को खड़ा करने में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी।

कशिपु : घास की बनी हुई चटाई।

कूर्च : सीट की तरह प्रयुक्त होने वाले घास के ढेर को कूर्च कहते हैं।

कृष्णाजिन् : काले मृग का चर्म।

फलक : लकड़ी की छोटी वेन्च।

राजा-आसन्दी : सोम को अधिष्ठित करने का स्टूल।

सम्राड-आसन्दी : प्रवर्ग्य के धर्मों को रखने का स्टूल सम्राडासन्दी कहलाता है।

११. सामान्य यन्त्र

अभ्रि : पृथ्वी खोदने का यन्त्र।, **क्षुरा** : दाढ़ी बनाने वाला चाकू।, **पर्शु** : लकड़ी काटने का यन्त्र।

१२. लड़ाई के औजार

असि (तलवार), धनुष, इषु (बाण)।

१३. वाद्य यन्त्र

दुन्दुभि, वीणा।

१४. दीक्षा से सम्बद्ध यन्त्र

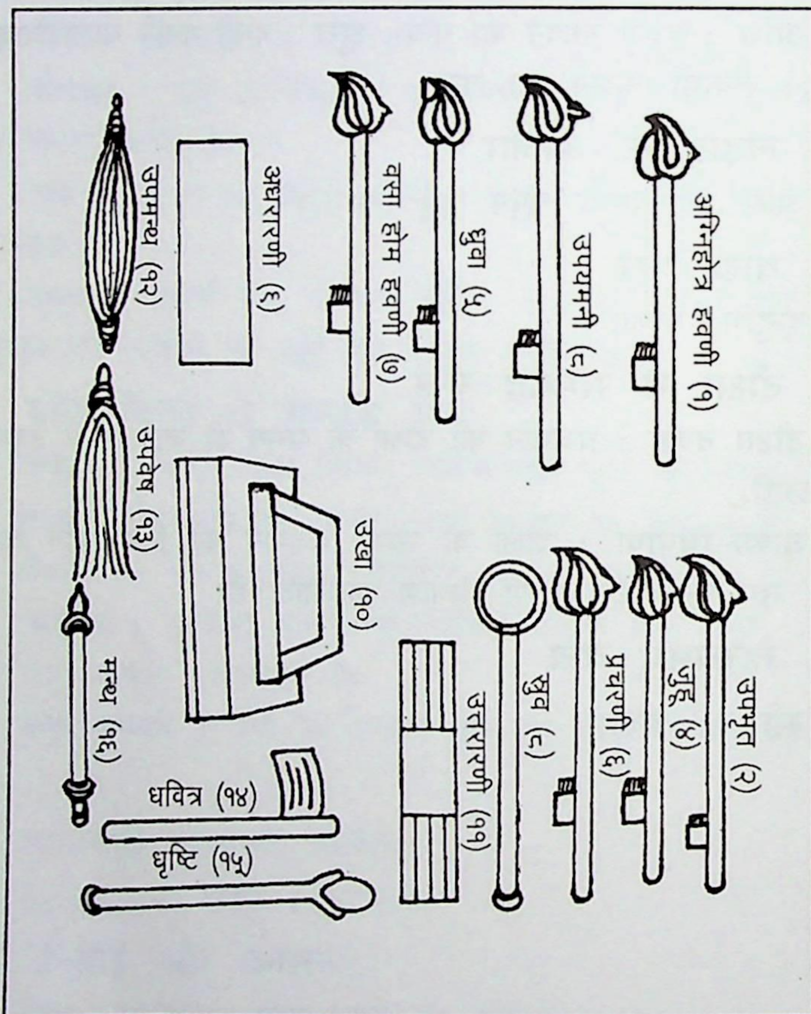
दीक्षा दण्ड : यजमान को दीक्षा के समय दी जाने वाली उदुम्बर की छड़ी।

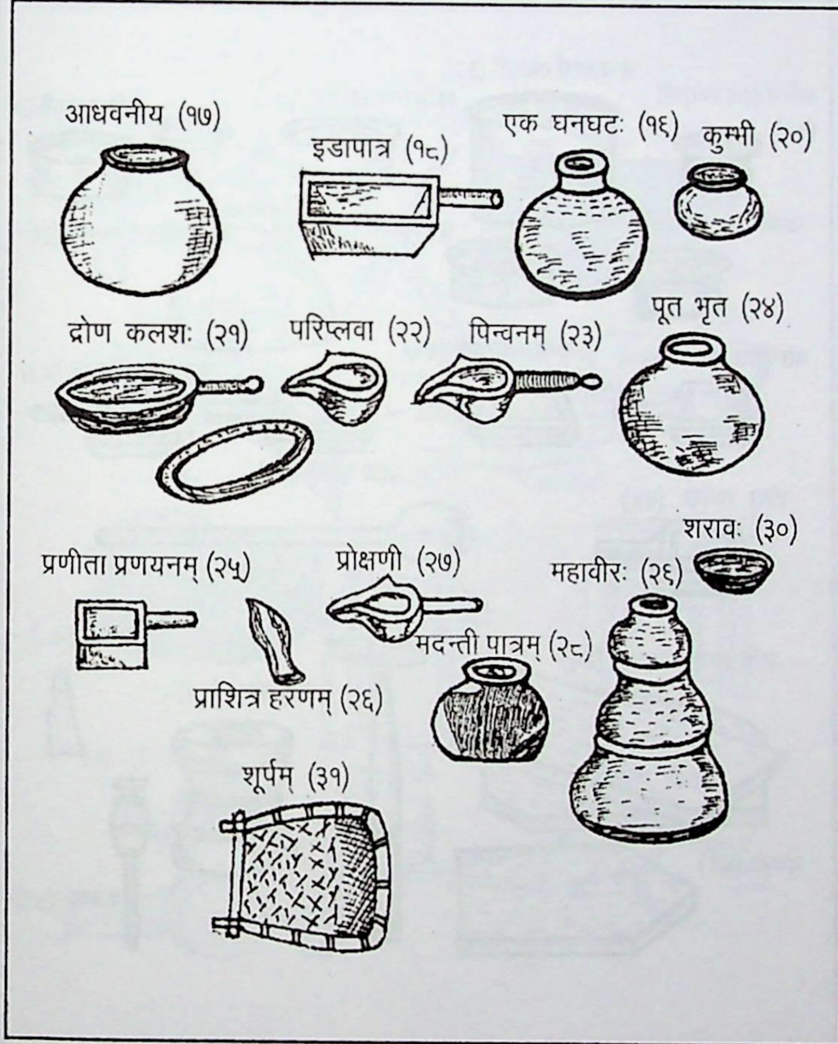
कृष्ण-विषाण : दीक्षा के समय यजमान को दिया जाने वाला कृष्ण मृग का सींग कृष्ण विषाण कहलाता है।

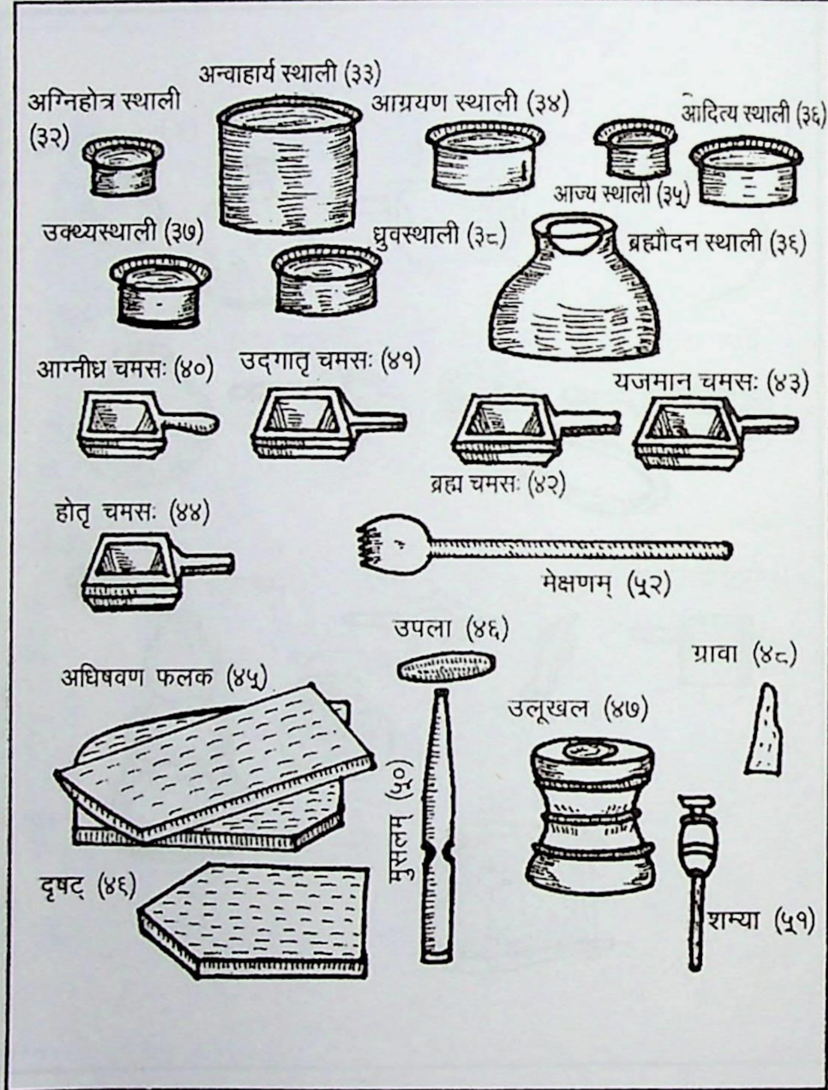
१५. रहस्यमय यन्त्र

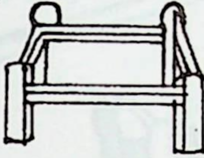
सीर : हल।

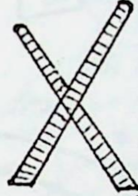
पात्रों एवम् उपकरणों के चित्र



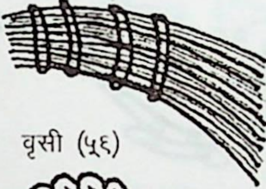

आधवनीय (१७)
इडापात्र (१८)
एक घनघटः (१६)
कुम्भी (२०)
द्रोण कलशः (२१)
परिप्लवा (२२)
पिन्वनम् (२३)
पूत भृत (२४)
शरावः (३०)
प्रणीता प्रणयनम् (२५)
प्रोक्षणी (२७)
महावीरः (२६)
मदन्ती पात्रम् (२८)
प्राशित्र हरणम् (२६)
शूर्पम् (३१)


अग्निहोत्र स्थाली (३२)
अन्वाहार्य स्थाली (३३)
आग्रयण स्थाली (३४)
आज्य स्थाली (३५)
आदित्य स्थाली (३६)
उक्थ्यस्थाली (३७)
ध्रुवस्थाली (३८)
ब्रह्मौदन स्थाली (३९)
आग्नीध्र चमसः (४०)
उदगातृ चमसः (४१)
ब्रह्म चमसः (४२)
यजमान चमसः (४३)
होतृ चमसः (४४)
मेक्षणम् (५२)
उपला (४६)
ग्रावा (४८)
अधिषवण फलक (४५)
उलूखल (४७)
मुसलम् (५०)
दृषद् (४९)
शम्या (५१)

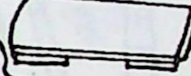

(५३) उखासन्दी


उपस्तम्भनम् (५४)

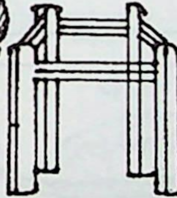

कशिपुः (५५)

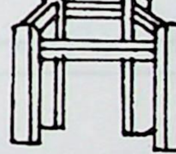

कूर्चः (५६)

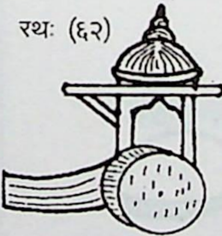

कृष्णाजिन् (५७)

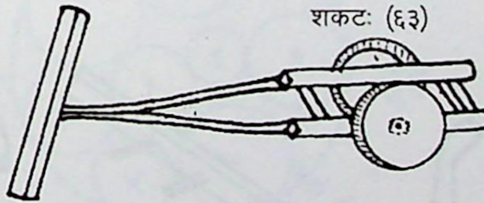

फलकम् (५८)


वृसी (५९)


राजासन्दी (६०)


सम्राडासन्दी (६१)


रथः (६२)

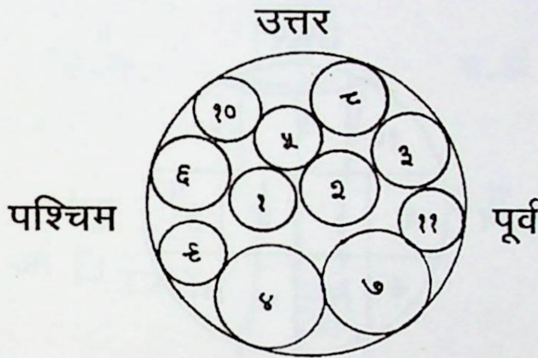

शकटः (६३)

(६४) औदुम्बरी
चषल (६५)
क्षुरः (६६)
मयूखः (६६)
स्थूणा (६८)
परशुः (७०)
यूषः (६७)
अरिः (७१)
इषुः (७३)
धनुः (७२)

कृष्ण विषाण (७५)
उवगः (७७)
सीरः (७४)
वेद (७६)
स्फ्य (७८)

एकादश कपालोपधान की प्रथम विधि

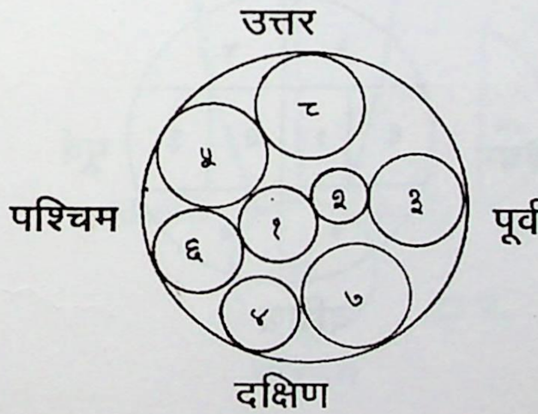
उत्तर



दक्षिण

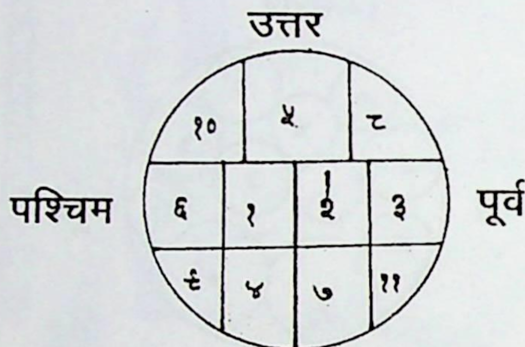
अष्टाकपालोपधान की प्रथम विधि

उत्तर

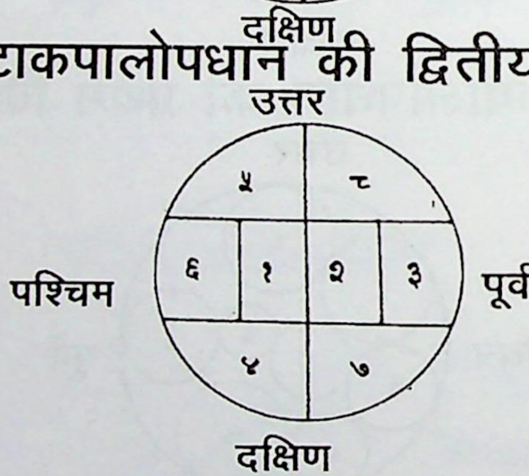


दक्षिण

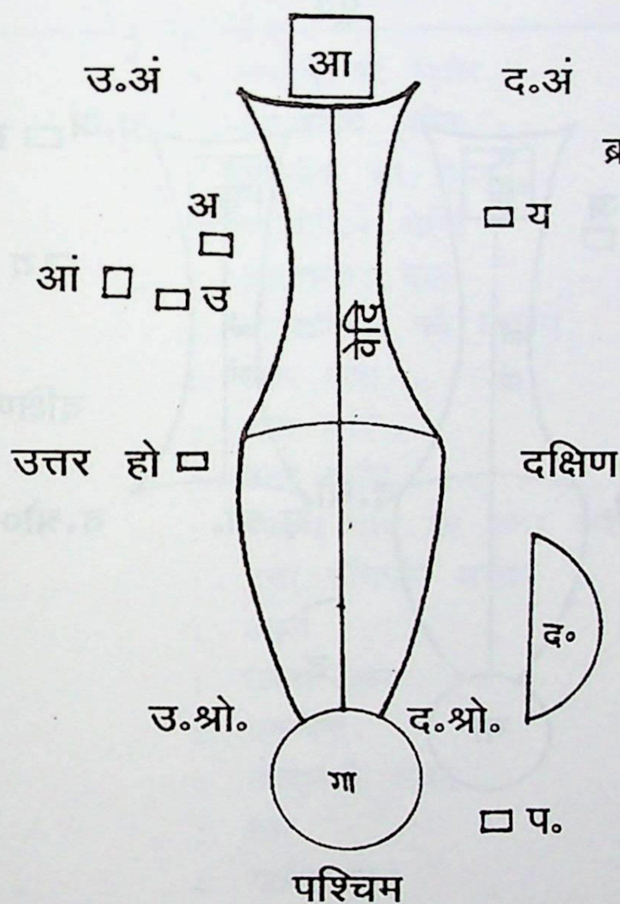
एकादश कपालोपधान की द्वितीय विधि



अष्टाकपालोपधान की द्वितीय विधि

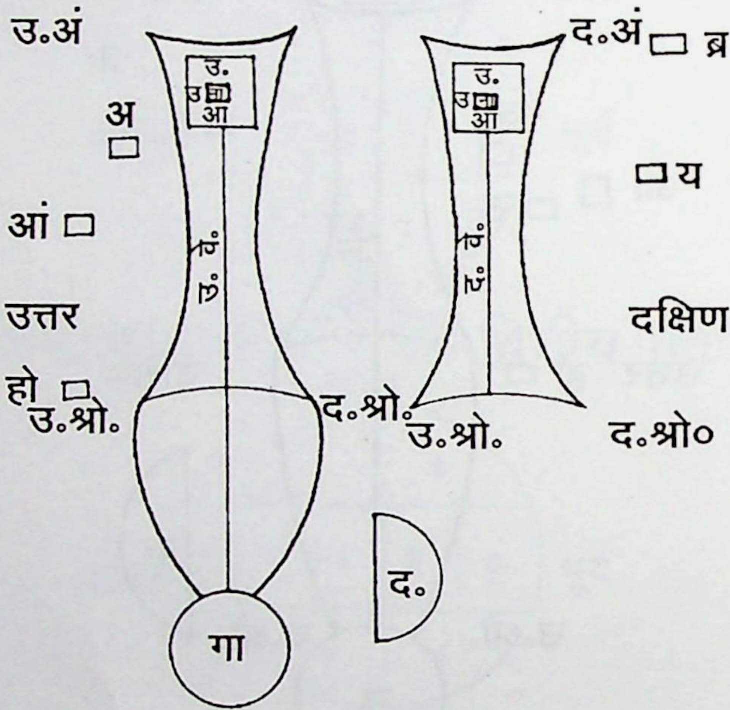


चातुर्मास्य की प्रकृतियज्ञ (दर्शपूर्णमास) की वेदि



वरुणप्रघास की वेदि

पूर्व



पश्चिम

परिशिष्ट-३

यज्ञ-वेदियों में प्रयुक्त संक्षेपाक्षर

अ०	:	अध्वर्यु का स्थान
आ०	:	आहवनीय अग्नि
आ०	:	आग्नीध्र का स्थान
आ०	:	आग्नीध्रिय अग्नि
आध०	:	आधवनीय घड़ा
आच्छा	:	आच्छावाक् की धिष्ण्य
उ०अं०	:	उत्तर अंश
उ०	:	उत्तर वेदि
उ०ना०	:	उत्तर नाभि
उ०अं०	:	दक्षिण वेदि का उत्तर अंश
उ०ह०	:	उत्तर हविर्धान मण्डप
उप०	:	उपल
उ०ख०	:	उच्छिष्टखर
ए०	:	एकधना
औ०	:	औदुम्बरी अवट
ख०	:	खर
गा०	:	गार्हपत्याग्नि
चा०	:	चात्वाल
द०	:	दक्षिण अग्नि
द०ह०	:	दक्षिण हविर्धान मण्डप
द०अ०	:	दक्षिण अंश
द०अ०	:	दक्षिण वेदि का दक्षिण अंश

द०श्रो०	:	दक्षिण श्रोणि
द०श्रो०	:	दक्षिण वेदि की दक्षिण श्रोणि
द०वे०	:	दक्षिण वेदि
द्रो०	:	द्रोण कलश
ध्रुव	:	ध्रुवास्थाली
ने०	:	नेष्टा की धिष्ण्य
प०	:	पत्नी का स्थान
पो०	:	पोता की धिष्ण्य
पू०	:	पूतभृत
पृ०	:	पृष्ठ्या
प्र०भा०	:	प्रथम आहवनीय अग्नि
प्र०	:	प्रस्तोता का स्थान
प्र०	:	प्रतिहर्ता का स्थान
प्रति०	:	प्रतिप्रस्थाता
प्रशा०	:	प्रशास्ता की धिष्ण्य
प्रा०	:	प्राचीन वंश मण्डप
ब्र०	:	ब्रह्मा का स्थान
ब्रा०	:	ब्राह्मणच्छंसी की धिष्ण्य
मा०	:	मार्जालीय
मे०	:	मेथी
मै०	:	मैत्रावरुण का स्थान
य०	:	यजमान का स्थान
यू०	:	यूपावट
रा०	:	राजासन्दी
व०	:	वसतीवरी जल
व०	:	वत्सशंकु
वे०	:	वेदि
शा०	:	शामित्र प्रादेश
स०	:	सम्राडासन्दी
सद्	:	सदस् मण्डप
हो०	:	होता का स्थान
होधि०	:	होता की धिष्ण्य

परिशिष्ट-४

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

संहिताएँ

१. **अथर्ववेद (शौनक शाखा)** : सायण भाष्य सहित-एस०पी० पण्डित, बम्बई, १८९५-९८, सातवलेकर सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, पारडी सूरत, १९५७

२. **अथर्ववेद (पैप्पलाद शाखा)** : रघुवीर, लाहौर, १९३६-४१

३. **ऋग्वेद** : सायण भाष्य सहित, मैक्समूलर सम्पादित चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६६, स्कन्द स्वामी भाष्य, विश्वबन्धु वि०वै० शोध सं० होशियारपुर

४. **यजुर्वेद काठकसंहिता** : सातवलेकर, एस०डी० स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, १९४३

५. **कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता** : धूपकर ए०वाई०, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९५७

६. **काठकसंहिता** : श्रौडर संस्करण लाइप्सिक, १९००-११, सातवलेकर सम्पादित स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, सतारा, १९४३

७. **कपिष्ठल कठ संहिता** : रघुवीर, लाहौर, १९३२

८. **काण्वसंहिता** : सातवलेकर सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, १९४०

९. **तैत्तिरीयसंहिता** : आनन्दाश्रम संस्करण, सायण भाष्य सहित १९००-०८ महादेव शास्त्री सम्पादित मैसूर, १८९४-९८, सातवलेकर सम्पादित मूलमात्र, स्वाध्याय मण्डल, पारडी सूरत, १९५७

१०. **मैत्रायणीसंहिता** : श्रौडर संस्करण लाइप्सिक १८८१, सातवलेकर, औन्ध, १९४२

११. **वाजसनेयिसंहिता** : माध्यन्दिन उव्वट, महीधर भाष्य सहित निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९१२

१२. **सामवेद सायणभाष्य सहित** : बीवानन्द विद्यासागर सम्पादित, कलकत्ता, १८९२

ब्राह्मण ग्रन्थ

१३. **आर्षेयब्राह्मण** : सं०बी०आर० शर्मा, तिरुपति, १९६७

१४. **ऐतरेयब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, दो भागों में, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १८९६ षड्गुरु शिष्यकृत सुख प्रदावृत्ति सहित, सं० अनन्त कृष्ण शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९४२

१५. **कौषीतकिब्राह्मण** : ई०जी० कावेल, कलकत्ता, १८६१

१६. **गोपथब्राह्मण** : ग्रास्टा १ लिडेन १९१९ बिव्लिओथिका इंडिका, १८७२

१७. **छान्दोग्यब्राह्मण** : सं० दुर्गमोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९५८

१८. **जैमिनीयब्राह्मण** : डॉ० रघुवीर, नागपुर, १९५०

१९. **ताण्ड्यमहाब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, सं०, चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३५

२०. **तैत्तिरीयब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, आनन्दाश्रम संस्करण, १९९८, दो भागों में, भट्ट भास्कर भाष्य सहित, सातवलेकर १९०८-१३

२१. **शतपथब्राह्मण** : माध्यन्दिन सायण भाष्य सहित, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, १९४०, काण्व ग्रन्थ १-३, डॉ० कैलैण्ड एवं रघुवीर, लाहौर

२२. **शांखायनब्राह्मण** : आनन्दाश्रम संस्करण पूना, १९११, लिण्डनेर संस्करण, १९८७

२३. **षडविंशब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८१

२४. **सामविधानब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, भरतस्वामी निवृत्ति बी०आर० शर्मा द्वारा सम्पादित, तिरुपति, १९६४

आरण्यक ग्रन्थ

२५. **ऐतरेय आरण्यक** : आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १८९८,

कीथ सम्पादित, आक्सफोर्ड, १९६९
२६. **तैत्तिरीय आरण्यक** : आनन्दाश्रम संस्करण पूना, १८९७-९८, सायण भाष्य, राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता, १८७२
२७. **शांखायनारण्यक** : आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना, १९२२

उपनिषद्

२८. **कठोपनिषद्** : अष्टादश उपनिषद्, लिमये एवं वाडेकर, वै०सं०म०पू०, १९५८
२९. **बृहदारण्यकोपनिषद्** : शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, १९२७
३०. **तैत्तिरीयोपनिषद्** : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०३३, सन् १९७६
३१. **मुण्डकोपनिषद्** : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१९, अष्टम संस्करण

श्रौतसूत्र

३२. **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र** : १. तीन भागों में तथा प्रश्न १-१५ पर्यन्त रुद्रदत्त की व्याख्या के साथ। रिचर्ड गार्वे, बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८८२-८५
२. दो भागों में प्रश्न १-८ तक धूर्तस्वामी भाष्य सहित, मैसूर गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, १९४५-५३
३. धर्म स्वामी भाष्य सहित, बड़ौदा, १९५५
३३. **कात्यायन श्रौतसूत्र** : १. विद्याधर गौड़कृत, भाष्य सहित, अच्युत ग्रन्थ माला, काशी, सं० १९८७
२. कर्क भाष्य सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९०३-०८
३४. **कौशिक सूत्र, अथर्ववेदीय** : सं० ब्लूमफील्ड, जे०ए०ओ०एस०, ग्रन्थ १४, १८९०
३५. **जैमिनीय श्रौतसूत्र** : डी० ग्रास्टा सम्पादित, लीडेन, १९०६
३६. **द्राह्यायण श्रौतसूत्र** :
१. पटल १-११ तक धर्वान्वत् भाष्य सहित, सं०जै०एन० रियूटर, लन्दन, १९०४
२. पटल ११-१५, व्याख्या सहित रघुवीर जनरल ऑफ वैदिक स्टडीज, भाग-१, सं० १, लाहौर, १९३३

३७. **बौधायन श्रौतसूत्र** : तीन भागों में, सं०डा० कैलेण्ड विब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १९०४, १९०७, १९१३

३८. **भारद्वाज श्रौतसूत्र** : डॉ० काशीकर, पूना, १९६४

३९. **मानव श्रौतसूत्र** : पाँच भागों में–नावर सेंटपिट संवेर्ग १९००-०३, छठवाँ भाग–जै०एम०फान गेल्डर, लीडेन, १९२१

४०. **लाट्यायन श्रौतसूत्र**:

१. अग्निस्वामी भाष्य सहित, विब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८७२

२. पण्डित मुकुन्द झा, वाराणसी, १९३२

४१. **वाधूल श्रौतसूत्र** : केलैण्ड अक्टा ओरियन्टालिया, तीन भाग, १९२४, १९२६, १९२८

४२. **वाराह श्रौतसूत्र** : सं० कैलैण्ड एवं रघुवीर, लाहौर, १९३३

४३. **वैखानस श्रौतसूत्र** : सं० केलैण्ड विब्लिओथिका इण्डिका, १९४१

४४. **वैतान श्रौतसूत्र** : डॉ० गार्वे लन्दन, १८७८

४५. **शांखायन श्रौतसूत्र** : तीन भागों में, हिलब्राण्ट सम्पादित विब्लिओथिका इण्डिका, १८८८, १८९१, १८९७

४६. **सत्याषाढ हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र** : दश भागों में, सं० काशीनाथ शास्त्री एवं शंकर शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९०७-१९३२

धर्मसूत्र

४७. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** : सं० जी० व्यूहलेर, बम्बई संस्कृत सीरीज, १९३२

४८. **गौतम धर्मसूत्र** : मस्करी भाष्य, सं० निवासाचार्य, सूर, १९१७

४९. **वसिष्ठ धर्मसूत्र** : ए०ए० फूहरेर, भाण्डारकर ओरियण्टल संस्कृत सीरीज, १९३०

५०. **वैखानस धर्मसूत्र** : रंगाचार्य मैसूर, मद्रास

गृह्यसूत्र

५१. **शांखायन गृह्यसूत्र** : नारायण भाष्य एवं रामचन्द्र पद्धति सहित, सम्पादक एस०आर० सहगल, दिल्ली, १९६०

पुराण

५२. **मत्स्यपुराण** :
१. हरि नारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, १९०७
२. मोर प्राच्य संस्थान, कलकत्ता, १९६२
५३. **विष्णुपुराण** : गीताप्रेस, गोरखपुर
५४. **वामनपुराण** :
१. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२१
२. काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी, १९६५
५५. **अग्निपुराण** : आनन्दाश्रम, पूना
५६. **देवीभागवत पुराण** :
१. पण्डित पुस्तकालय, काशी
२. मोर प्राच्य संस्थान, कलकत्ता

अन्य ग्रन्थ

५७. **ऋग्वेद भाष्य भूमिका** : व्याख्याकार डॉ० कमल नारायण शर्मा, स्वामी परांकुशाचार्य ग्रन्थमाला, २, ३, पटना, १९७९
५८. **दर्शपूर्णमास प्रकाश** : आनन्दाश्रम, पूना, १९२४
५९. **धर्मशास्त्र का इतिहास** : भाग १ एवं २, मू०पी०वी० काणे, हिन्दी अनुवाद, अर्जुन चौबे, काश्यप, हिन्दी समिति
६०. **निघण्टु** : देवराज यज्वा, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८८२
६१. **निरुक्त** : लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर, १९२७, दुर्गवृत्ति, पी०के० राजवाडे, पूना
६२. **वृहद्देवता** : अंग्रेजी अनुवाद सहित, ए०ए० मैक्डानल, हारवार्ड ओरियण्टल सीरीज ग्रन्थ, ५, ६, १९०४
६३. **यज्ञ मधुसूदन** : मधुसूदन शर्मा, लखनऊ, १९२०
६४. **यज्ञतत्व प्रकाश** : श्री चिन्स्वामी शास्त्री एवं रामनाथ दीक्षित, मद्रास, लॉ, जर्नल प्रेस, १९५३
६५. **वैदिक कोश** : हंसराज, प्रथम संस्करण, लाहौर, १९२६, डॉ० सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, १९३२
६६. **वैदिक वाड्मय का इतिहास** : भगवद्दत्त, पंजाबी बाग, देहली
६७. **वैदिक धर्म एवं दर्शन** : ए०बी० कीथ-अनुवाद, डॉ० सूर्यकान्त

मोतीलाल, बनारसीदास, १९६५

६८. **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति** : महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी संस्कृति विहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, द्वितीय संस्करण, १९७२

६९. **श्रौत पदार्थ निर्वचनम्** : विश्वनाथ शास्त्री, द्वितीय संस्करण, बनारस, १९१९

७०. **श्रौतकोश** : संस्कृत विभाग, प्रथम एवं द्वितीय ग्रन्थ, प्रथम भाग, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९५८

७१. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** : मैक्डानल, अनुवाद चारुचन्द्र शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२

७२. **महाभारत** : श्रीमन्महर्षि वेदव्यास प्रणीत, गीताप्रेस, गोरखपुर

७३. **मनुस्मृति** : खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो सीरीज १०६, पटना, १९३८

७४. **महाभाष्य पस्पशाह्निक** : भगवत्पतञ्जलि विरचित, चारुदेव शास्त्री, श्री मोतीलाल बनारसीदास

७५. **वाल्मीकि रामायण** :

१. श्री दयानन्द महाविद्यालय, संस्कृत ग्रन्थमाला संस्कृत १८ विश्वबन्धु द्वारा प्रकाशित लवपुरम, १९९७

२. महर्षि वाल्मीकि प्रणीत, जयकृष्ण मिश्र, सर्वेश शास्त्री भुवन वाणी ट्रस्ट मौसम बाग (सीतापुर रोड), लखनऊ-२२६०२०, १९८९

७६. **पूर्वमीमांसा शाबर भाष्य** : युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर, ट्रस्ट, बहालगढ़ (पिन : १३१०२१) सोनीपत, हरियाणा

७७. **अर्थ संग्रह** : चौखम्बा प्राच्यविद्या ग्रन्थ माला, डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, संस्कृत विभाग दिल्ली, विश्वविद्यालय, दिल्ली, चौखम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली

अप्रकाशित ग्रन्थ

७८. **उपनिषत्कालीन जीवन तथा दर्शन** : लाल शीतलाशरण सिंह, पुस्तकालय, श्रीप्रतापबहादुर सिंह स्मारक पौराणिक संस्थान, हरगाँव, सुलतानपुर (उ०प्र०)-२२७८०७

७९. **प्राचीन भारतीय इतिहास की पूर्व पीठिका** : उपर्युक्त
८०. **श्रौतयागों में ऋत्विग्विधान** : डॉ० सुमनलता श्रीवास्तवा, १९८९ में अवध विश्वविद्यालय में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध
८१. **उपनिषदों में यज्ञ** : डॉ लालताप्रसाद द्विवेदी 'अगम', अमिता पुस्तकालय, भारतीय संस्कृति, शिक्षा एवं साहित्य शोध संस्थान, पूरे गुरुदीन शुक्ल, सुलतानपुर (उ०प्र०)
८२. **वैदिक शिक्षा के पारिस्थतिकीय आधार** : डॉ० लालताप्रसाद द्विवेदी 'अगम' अमिता पुस्तकालय, भा० सं०, शि० एवं सा० शोध संस्थान, पूरे गुरुदीन शुक्ल, भटगवां, सुलतानुपर (उ०प्र०)

अंग्रेजी-ग्रन्थ

83. **Macdonel and A.B. Keith :** Vedic Index, Vol. I. and II, London, 1912.
84. **Max Muller : History of Ancient Sanskrit Literature,** Allahabad, 1926.
85. **History of Sanskrit Literature :** C.V. Vaidya, Poona, 1930
86. **History of Dharmasastra :** Vol. II, Pt. II, P.V. Kane, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1941.
87. **Vedic Concordance :** B. Bloomfield, The Harward Oriental Series, Vol. X, 1906.
88. **India of Vedic Kalpa Sutras :** Ram Gopal, National Publishing House, Daryaganj, New Delhi, 1959.
89. **Studies in the Brahmanas :** Dr. A.C. Banerjea, Chowkhambha S.K. Series, Motilal Banarasidas, New Delhi, 1966.
90. **Agling Sac. Books of the East :** Translated by various Oriental East Scholars and Edited by F. Max Muller, Oxford at the Clarendon Press, 1900.
91. **The Chaturmasya Sacrifices :** V.V. Bhide, University of Poona, Pune.
92. The Religion and Philosophy at the Vedas and the Upanishads.
93. Indishe Studiyan
94. Veda of the Black Yajus School entitled **Taittiriya Samhita.**

95. **Sanskrit English Dictionary** : Sir M. Monier William, Motilal Banarsidas, 1970.

96. **Dictionary of Vedic Rituals**

97. **A Critical Study of the katayan shraut sutra :** Dr. K.P. Singh, B.H.U., Motilal Banarsidas, 1969.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. **A Critical Study of the Chaturmasya Sacrifices :** V.B.D. III, 24.80.

2. **Vaidika Yajnah** : S.S.B.1961, 23-69 Giridhar Sarma Chaturvedi.

3. **Vedic Sacrifice :** U.C. Pandey Bharti 6 (2) 1962-63, 105-108.

4. **Journal of Vedic Studies, II-1935.**



डॉ. लालताप्रसाद द्विवेदी 'अगम'

पिता - श्री कालीदत्त द्विवेदी 'दिव्य'

माता - श्रीमती राजमती द्विवेदी

जन्म - बीस सितम्बर सन् उन्नीस सौ बासठ

स्थायी पता - भगवती भवन, पूरे गुरूदीन शुक्ल, सरमें, सुलतानपुर (उ.प्र.)

शिक्षा - एम.ए., एम.एड्., पी-एच.डी. (संस्कृत)

प्रकाशित कृतियाँ - कर्मयोगियों की परम्परा में एक और पुष्प राजीव गाँधी

अप्रकाशित कृतियाँ - (1) उपनिषदों में यज्ञ; (2) वैदिक शिक्षा के पारिस्थितिकीय आधार; (3) विष्णुपुराणोक्त धर्म तथा विष्णु-भक्ति (विष्णु पुराण के विशिष्टालोक में); (4) यज्ञ चिन्तन (यज्ञ सम्बन्धी विभिन्न शोध निबन्धों का संग्रह); (5) पं. श्रीराम शर्मा आचार्य की शैक्षिक अवधारणा तथा तत्सम्बन्धी प्रयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन

प्रकाशित शोधपत्र - विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में 31 शोधपत्र प्रकाशित।

अन्य - हिन्दी सा. सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद से प्रकाशित मार्कण्डेय महापुराण की भूमिका।

आकाशवाणी कार्यक्रम - विचार-बिन्दु कार्यक्रम के अन्तर्गत आकाशवाणी, इलाहाबाद से अनेक व्याख्यान प्रसारित।

सम्प्रति - [illegible] इन्दिरा गाँधी पी.जी. कालेज, गौरीगञ्ज, सुलतानपुर (उ.प्र.)।

पेनमैन पब्लिशर्स
(संस्कृति और साहित्य का विशिष्ट पुस्तक केंद्र)
7308 प्रेम नगर, शक्ति नगर
दिल्ली--110007